मनोरंजन पुस्तकमाला-५

संपादक

श्यामसुंदरदास, बी० ए०



काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

आदर्श हिंदू

दूसरा भाग

लेखक

मेहता लज्जाराम शर्म्मा

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२८ मूल्य १।)

सूची

आदर्श हिंदू

दूसरा भाग

प्रकरण—२४

प्रयाग के भिखारी

इक्कीसवें प्रकरण के अंत में उस अपरिचित यात्री के साथ पंडित प्रियानाथ ने जाकर देखा। उन्होंने अपनी आँखों से देख लिया, खूब निश्चय करके जान लिया और अच्छी तरह जिरह के सवाल करके निर्णय कर लिया कि उस नादिया का पाँचवाँ पैर जो कंधे के पास लटक रहा था वह सरासर बनावटी था। पीछे से जोड़ा गया था। जो असाधु साधु बनकर नंदिकेश्वर का पुजापा लेता फिरता था वह वास्तव में हिंदू नहीं था। जब पंडितजी ने खूब खोद खोदकर उससे पूछा तब उसने साफ साफ कह दिया कि "महाराज, ये तो पेटभरौती के धंदे हैं।" इन्होंने इस बात के लिये जो जो परीक्षाएँ कीं उनमें एक यह भी थी कि जब उस नादिया के और और अंगों में सुई चुभो दी गई तब वह लात फटकारकर सिर हिलाकर मारने को दौड़ा किंतु जब पाँचवें पैर की पारी आई तब चुप।

पंडितजी को उस नंदिकेश्वर के दुःखों पर दया आई, हिंदू-प्रयाग की ऐसी गिरी हुई दशा देखकर उनका हृदय एकदम काँप उठा। देश में इस तरह की ठगी का, धर्म के नाम पर अधर्म का, घोर कुकर्म का दृश्य उनकी आँखों के सामने आ खड़ा हुआ। बस इनकी आँखों में अनायास आँसू आ गए। इनका साथी देश के दुर्भाग्य पर जब सरकार को दोष देने लगा तब यह बीच में उसकी बात काटकर बोले—

"नहीं! इसमें गवर्मेंट का बिलकुल दोष नहीं। वह विदेशी है। वह यदि ऐसे कामों में हाथ डाले तो लोग चिल्ला उठेंगे। उसने प्रत्येक मत मतांतरवालों को अपने अपने धर्म के कामों में स्वतंत्रता दे दी है। इसके सिवाय वह कुछ नहीं कर सकती। इसमें विशेष दोष भोले हिंदुओं का है जो बिना निश्चय किए ऐसे ऐसे ठगों को साधु मानकर उन्हें पूजते हैं, जरा से झूठमूठ चमत्कार से सिद्ध मान बैठते हैं। किसी हिंदू राजा को यदि कोई सुझा दे, यदि उसमें भी परमेश्वर की दया से सुबुद्धि हो तो ऐसे ऐसे धूर्तों को उसके यहाँ से सजा अवश्य मिल सकती है। क्योंकि वह जैसे प्रजा का स्वामी है वैसे प्रजा के धर्म का भी रक्षक है। जैसे बूँदी के वृद्ध महाराज ने उभयमुखी गायों का अनर्थ बंद करवा दिया। और सबसे बढ़कर यह है कि यदि थोड़ा सा भी परिश्रम उठाकर भोले हिंदू ऐसे ठगों की ठगई का निश्चय किए बिना देना बंद कर दें तो सहज में उपाय हो सकता है।"

"हाँ महाराज! ठीक है, परंतु यहाँ एक और भी अनर्थ होता है। भगवती भागीरथी के पुण्य सलिल में मछलियाँ मारी जाती हैं। (दूर से लटकती हुई जाल दिखलाकर) यह देखो प्रत्यक्ष प्रमाण। अच्छा अच्छा! अभी मैं आपको जाल डालते हुए भी दिखलाए देता हूँ। चढ़ो बाँध पर और लो यह दूरबीन।

"हाँ! हाँ!! दिखलाई देने लगा। (बाँध पर खड़े होकर दुरबीन लगाने के अनंतर) खूब दिखलाई देता है। राम राम! अनर्थ हो गया! पुण्यसलिला गंगा में यह पाप! और प्रयागी हिंदू इसका कुछ प्रयत्न नहीं करते?"

"बिलकुल उदासीन हैं। मैंने कई लोगों से कहा, पंडों को खूब समझाया किंतु यहाँ के बहुत आदमी जब इसे खानेवाले हैं तब वे ऐसा उद्योग क्यों करने लगे? महाराज, मैं नहीं कहता कि मछली पकड़ना बिलकुल ही बंद कर दिया जाय। ऐसी सलाह देने का न तो समय है और न कोई अधिकारी है। किंतु मेरा कथन यह है कि कम से कम प्रयाग, प्रयाग की हद में, तीर्थों की सीमा में तो यह काम बंद कर दिया जाय। किंतु जब कहा जाता है तब लोग इस बात को मंजूर ही नहीं करते कि मछलियाँ मारी जाती हैं। सुना है कि कुछ लोगों ने उद्योग करके यमुनाजी के हिंदू घाटों पर इसे बंद भी किया है।"

"परंतु क्यों साहब! क्या यहा के बहुत आदमी मछलियाँ खानेवाले हैं?"

"हाँ जनाब ! बड़े बड़े पंडित ! पोथाधारी !"

"राम राम ! बड़ा अनर्थ हो गया ! फटे कपड़े में पैबंद लग सकता है किंतु फटे आकाश में कौन लगा सके ? हाय ! हाय !!"

इस तरह की बातें करते करते, इस काम के लिये नीच ऊँच सोचकर सलाह करते करते ये दोनों वहाँ से चलकर फिर त्रिवेणी-तट पर, संगम पर आ पहुँचे। आए और बहुत ही उदास होकर दुःखित होकर आए। भाई ने और प्रियंवदा ने जब उनसे बहुत आग्रह के साथ पूछा तब उन्होंने आँखों में से आँसू डालकर केवल इतना कहा कि—

"यह वही पुण्यभूमि और यह वही पुण्यसलिला है, यह वही तीर्थ, नहीं तीर्थों का राजा है जिसके विषय में (तुलसीकृत रामायण में) भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्रजी के प्रयाग पहुँचने पर कहा गया है—

चौपाई—"प्रात प्रातकृत करि रघुराई ।
तीरथराज दीख प्रभु जाई ॥
सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी ।
माधव सरिस मीत हितकारी ॥
चारि पदारथ भरा भँडारू ।
पुण्य प्रदेश देश अति चारू ॥
क्षेत्र अगम गढ़ गाढ़ सुहावा ।
सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन पावा ॥

सेन सकल तीरथ वर बीरा ।
कलुष अनीक दलन रणधीरा ॥
संगम सिंहासन सुठि सोहा ।
छत्र अक्षयवट मुनि मन मोहा ॥
चमर जमुन अरु गंग तरंगा ।
देखि होंहिं दुख दारिद भंगा ॥

दोहा—सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मन काम ।
बंदी वेद पुराण गण, कहहिं विमल गुण ग्राम ॥

चौपाई—को कहि सकै प्रयाग प्रभाऊ ।
कलुष पुंज कुंजर मृगराऊ ॥
अस तीरथपति देखि सुहावा ।
सुखसागर रघुबर सुख पावा ॥"

❀ ❀ ❀ ❀

आज इसी तीर्थराज में ऐसा घोर अनर्थ हो रहा है। इतने दिन सुन सुनकर हृदय काँपा करता था। जिस बात को कानों से सुना था उसे आज आँखों से देख लिया। देखकर कलेजा दहल उठा। उसने जगह छोड़ दी। हाय! बड़ा गजब है। अब तक वह तस्वीर मेरी आँखों के सामने है।"

पंडितजी की इस तरह घवड़ाहट देखकर गृहिणी ने, भाई ने और गौड़बोले ने समय की महिमा, युग का धर्म बतलाकर उनका प्रबोध किया और इस तरह जब इन लोगों में धर्म का आंदोलन हो रहा था तब एकदम भिखारियों के

टोले के टोले ने आ हलचल मचाई। समुद्र की हिलोरें तूफान के समय जैसे आ आकर किनारे से टकराती हैं, छत्ते की बरें जैसे उड़ उड़कर आदमी पर टूट पड़ती हैं अथवा मारवाड़ की रेत जैसे टीले के टीले उड़ उड़कर आदमी पर गिरती और ढाँक लेती है उसी तरह इनको घेरा। किंतु लहरें जैसे किनारे से ले जाकर आदमी को फिर भी किनारे पर ही ला डालती हैं, रेत भी जैसे उड़कर आती है वैसे हवा के झोंके से उड़कर चली भी जाती है परंतु छत्ते की बरें एक बार आदमी को घेरने पर भी नहीं छोड़तीं, स्थल में नहीं छोड़तीं और जल में नहीं छोड़तीं, यदि उनसे बचने के लिये पानी में गोता लगाया तो क्या हुआ वे जानती हैं कि अभी ऊपर सिर निकलेगा। बस इस कारण वहाँ की वहाँ ही मँडराती रहती हैं। सिर निकालते ही माथे में डंक मार मारकर काटने लगती हैं। बस यही दशा इन लोगों की हुई। मथुरा की घटना याद करके, प्रयाग का दृश्य देखकर ये सारे भागकर अपनी जान बचाने के लिये नाव पर चढ़े। कमर कमर पानी तक किनारे किनारे चलकर आधी मील तक उन लोगों ने इनका पीछा किया और जब इन्होंने अपनी जान बचाने के लिये उनको कुछ भी न दिया तब वे गालियाँ देते लौट गए।

पहले इनकी यह इच्छा हुई थी कि भोला को इस काम पर नियत कर चलें परंतु उस बिचारे के कपड़े बचने कठिन

थे, उसकी जान बचना मुशकिल था, बस इसलिये इन्होंने यथाश्रद्धा गुरुजी को देकर उनसे खूब ताकीद कर दी कि—

"जो संडे मुसंडे हैं, हट्टे कट्टे हैं, जो और तरह से अपनी जीविका चला सकते हैं उन लोगों तक को देना हमारी सामर्थ्य से बाहर है। आपके यहां अनेक राजा, महाराजा, लखपती, करोड़पती आते हैं और उन्हें देते भी हैं। जब गरीबों की जीविका के मार्ग बंद होते जाते हैं, जब प्रजा के पाप से अकाल पर अकाल पड़ते हैं तब जब तक उनकी स्वतंत्र जीविका के नए नए मार्ग खोलकर उन्हें न लगाया जाय तब तक मैं इन लोगों को देनेवालों की निंदा नहीं करता, जीविकाहीन होकर यदि ये बिचारे भिक्षा न माँगें तो करें क्या? परंतु मुझ जैसे आदमी की ऐसों को देने की सामर्थ्य नहीं। और हाँ! जब प्रयाग की, भारतवर्ष की सब ही जातियाँ भिखारी बन रही हैं तब इन लोगों का भरण पोषण करना भी जरा टेढ़ी खीर है। इन लोगों ने संतोष छोड़कर, भगवान् का भरोसा छोड़कर, यात्रियों की श्रद्धा का सचमुच खून कर डाला। यदि इनकी कोई स्वतंत्र जीविका का शीघ्र ही प्रबंध न किया जायगा तो यात्रियों का आना कम हो जायगा, भगवान् न करे, किसी दिन बंद हो जाय। क्योंकि घर पर धर्म की शिक्षा के अभाव से श्रद्धा का बीज प्रथम तो ऊसर भूमि की तरह कोंपल ही नहीं देता, फिर यदि दैव-संयोग से कोंपल फूट भी आई तो आजकल की दूषित शिक्षा

का खारा जल उसे जन्मते ही, निकलते ही नष्ट कर डालता है और जो कहीं अच्छे संस्कार से कुछ बढ़ भी गया तो ऐसे ऐसे वंचकों का पाला उसका सर्वनाश कर डालता है।"

"हाँ यजमान, आपका कहना सच है। पर जब इन लोगों को न दिया जाय तो यह आपकी रकम किनके लिये है ?"

"गुरूजी महाराज, इनको भँजाकर उन दीन दुखियों को दीजिए जो सचमुच पेट पालने में असमर्थ हैं! वह देखिए (नाव में बैठे बैठे अँगुली से दिखलाकर) किनारे पर पड़े पड़े लूले, लँगड़े, अंधे, टुंडे और कोढ़ी कराह रहे हैं। हाय! उनकी दुर्दशा देखकर मेरा दिल चूरमूर हुआ जाता है। देखो! देखो! (भाई को दिखाकर) उनके शरीर में से रक्त बह रहा है। हाथ पैर गल गए हैं! (स्त्री की ओर सैन करते हुए) ओ हो! उनकी आँतें भूख के मारे बैठी जाती हैं। हाय! हाय!! वह नन्हा सा बच्चा बिलख बिलखकर रो रहा है। उनको दो, महाराज! (गुरूजी को पुकारकर) उन्हें दो। इन लफंगों ने उन बिचारों के भी पेट काट दिए। इन लोगों के मारे उनकी ताब ही कहाँ है जो किसी के पास जाकर माँगें?"

"अच्छा यजमान, ऐसा ही होगा, परंतु हमारी दक्षिणा और ब्राह्मणभोजन, ये दो बातें रह गईं।"

"रह गईं तो कुछ चिंता नहीं। (कुछ देकर) यह लीजिए। इसमें आधे में आपकी दक्षिणा, आपके लिये भोजन

और आधे में ब्राह्मणभोजन करा दीजिए। परंतु इतना याद रखिए, विलायती चीनी का कोई पदार्थ न हो। विलायती खाँड़ खाना तो क्या वह स्पर्श करने योग्य भी नहीं है। वह, राम राम! थू थू!! बहुत ही घृणित वस्तु से साफ की जाती है।"

"हाँ यजमान! ऐसा ही होगा। जो देशी चीनी की मिठाई भरोसे की दूकान पर न मिली तो कच्ची बनवाकर खिलाई जायगी। गुड़ की चीजें?"

"बेशक ठीक है, परंतु ब्राह्मण पात्र तलाश करना। पढ़े लिखे विद्वान्! और विद्वान् न मिलें तो संस्कृत के विद्यार्थी। क्यों समझ गए ना? अब पाप पुण्य तुम्हारे सिर है।"

"हाँ हाँ! मेरे सिर।" कहकर इधर गुरूजी छलाँग भरते अपने तख्त पर आ डटे और मल्लाहों ने उधर डाँड़ खेकर इनकी नाव चलाई। इस तरह जब ये लोग सब ही कामों से निश्चिंत हो गए तब इन्हें पेटपूजा की सूझ पड़ी। नाव में रखे हुए खाने के पदार्थ सँभाले तो उनमें विलायती चीनी का संदेह। बस आज्ञा दी गई कि तुरंत यमुनाजी में डाल दिए जायँ। बस मिठाई मिठाई सब डाल देने बाद इन्होंने केवल केले, सेब, अमरूद, नारंगी पर गुजारा किया और भोला, भगवान, चमेली, गोपीवल्लभ ने खूब डटकर पूरी तरकारी उड़ाई। किंतु खाते खाते ही जब इनकी निगाह किनारे पर कोई आधी मील की लंबाई में सूखती हुई मछलियाँ पकड़ने की जाल पर पड़ी तो इनका मन, सब खाया पीया

राख हो गया। नाव मे बैठे बैठे इधर उधर की बात चलते चलते मल्लाह गहरे पानी में से रुपया निकाल लाने पर तैयार हुए। पंडितजी के नाहीं करते करते भोला ने अपनी टेंट में से निकालकर एक जयपुरी झाडशाही रुपया पानी में डाला और तुरंत ही गोता लगाकर उसे मल्लाह निकाल लाया। पंडितजी ने इस पर भोंदू मल्लाह की बहुत प्रशंसा की और उसे इनाम देकर प्रसन्न भी कर दिया किंतु भोला को झिड़का अवश्य।

खैर, नाव चलते चलते इनकी दृष्टि एक बार त्रिवेणी-संगम पर खड़ी हुई पताकाओं पर पड़ी तो ये लोग देखकर गद्गद हो गए। इस बार गौड़बोले बोले—

"अहा! कैसी विचित्र छटा है! पंडितजी, ये जो दिखलाई दे रहे हैं, ये पंडों के झंडे हैं, नहीं! तीर्थों के राजा प्रयागराज की विजयपताकाएँ हैं! इस पुण्यतोया के तट पर यात्रियों का कलरव ही उस राजाधिराज का जयघोष है। गंगा, यमुना और सरस्वती का जिस पुण्य स्थल में संगम हुआ है वही उसके राजप्रासाद हैं। त्रिवेणी की लहरें उनके सैनिक हैं और ऐसे राजा से भयभीत होकर ही इस दुर्ग की गिरिगुहा में यमराज जा छिपा है। जब उसके दूतों की पीरी न चली तब वह स्वयं पापियों को पकड़ने आया था किंतु इस ब्रह्मद्रव ने उसका वज्र सा कठोर हृदय भी द्रवीभूत कर डाला। धन्य त्रिवेणी! धन्य तीर्थराज! और धन्य

यात्री !!! और वे जन धन्यातिधन्य हैं जो विपत्ति पर विपत्ति सहकर भी श्रद्धा के साथ यहाँ स्नान कर रहे हैं।"

"वास्तव में श्रद्धा ही मुक्ति की माता है, भक्ति ही उसकी सहचरी है और भगवान् भी उसके वशवर्ती हैं। इस विमलतोया, कलिमलनाशिनी के पुण्य द्रव से स्नान करने के पूर्व ही वह विपत्ति सोने की नाईं तपाकर जीव को निर्मल कर देती है। भगवती के तट का त्रिविध बयार उसके बाह्य विकारों को सुखा देता है और भगवती के स्नान और पान से दैहिक, दैविक और भौतिक ताप, पापों के पुंजों को लिए हुए प्राणी का पिंड छोड़कर उसी तरह भाग जाते हैं जिस तरह वनराज सिंह के गर्जन का श्रवण करके मेषों का वृंद। वास्तव में आज हमारे कृतार्थ होने का शुभ दिवस है। भगवान् यदि कृपा करें तो गंगातट पर निवास दें।"

"हाँ सत्य है! हाँ सच है!" कहते हुए मल्लाहों को मजदूरी देकर सब लोग नाव पर से उतरे। कुछ आगे बढ़कर किले के पास से इन्होंने इक्के किराए करके घर का रास्ता लिया। वहाँ पहुँचकर ज्यों ही ये लोग सुस्ताने लगे, गुरुजी के आदमी ने कांतानाथ का नाम पूछकर उन्हें एक पर्चा और एक तार का लिफाफा दिया। पढ़कर यह बिलकुल निश्चेष्ट से हो गए। देर तक इनके मुख में से एक शब्द तक न निकला। "हाय प्रारब्ध !!" कहकर यह कमर पकड़कर बैठ गए। इनके चेहरे के चढ़ाव उतार से चाहे कोई यह

जान ले कि मामला कोई गहरी आपदा का है किंतु वह मौन। भाई के बहुतेरा पूछने पर जब इन्होंने कुछ उत्तर न दिया तब भौजाई ने पति को इशारा देकर वहाँ से हटाया। फिर भौजाई ने पूछा। उत्तर उसे भी न दिया किंतु पर्चा और तार उसके सामने डाल दिया। पर्चे में क्या लिखा था सो लिखनेवाला किसी दिन स्वयं बतला देगा। तब ही मालूम होगा कि इन दोनों का आपस में क्या संबंध है अथवा कोई और ही मतलब है। तार था कांतानाथ के मित्र भोलानाथ का। उसमें लिखा था—

"यदि तुम्हें अपनी इज्जत बचानी है तो यात्रा छोड़कर तुरंत अपनी ससुराल पहुँचो। नहीं तो पछताना पड़ेगा।"

इन दोनों को पढ़कर प्रियंवदा कुछ कुछ समझी हो या समझी हो क्योंकि पर्दे के भीतर रहकर भी स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा दुनिया का बहुत हाल मालूम रहता है किंतु न तो प्रियानाथ के ध्यान में आया और न ठीक कांतानाथ के। हाँ! भोलानाथ की बातें सदा बावन तोला पाव रत्ती निकलती थीं। बस इसलिये भाई की आज्ञा पाकर, अपना करम ठोकते हुए कांतानाथ वहाँ से विदा हुए। इससे दंपती को बहुत ही दुःख हुआ। खैर! इसके बाद गत प्रकरण में पाठकों ने कांतानाथ को उनकी ससुराल में देख ही लिया है।

प्रकरण—२५

मांसभक्षण

यद्यपि बहुत ही आवश्यकता समझकर पंडितजी ने कांतानाथ को भेज दिया और भेज देने में किया भी अच्छा ही, किंतु इनका मन उसके चले जाने से बड़ा बेचैन हो गया। यह उनका और वह इनका मन मैला नहीं होने देते थे। दोनों में प्रीति असाधारण थी और इसलिये लोग इन्हें "राम लक्ष्मण की सी जोड़ी" कहा करते थे। इस समय यदि भाई पर विपत्ति है तो उससे चौगुनी इन पर है। यह समझकर इन्होंने भी उसके साथ ही लौट जाना चाहा था किंतु जो काम उठाया उसे चाहे जैसी विपत्ति पड़ने पर भी न छोड़ना, यही इनका सिद्धांत था। इसी के अनुसार इन्होंने किया और जब यह घबड़ाने लगे तब इनकी विपत्ति की संगिनी ने इनको धीरज दिलाकर संतोष कराया। उसने इनको समझा दिया कि—

"चाहे जैसी विपत्ति पड़े, छोटे भैया आपके छोटे भैया हैं। और तार से अनुमान होता है कि देवरानी के चरित्र का मामला है किंतु अभी तक कुछ बिगड़ा नहीं है। वह अवश्य साम, दाम, दंड और भेद से सँभाल लेंगे। आप घबड़ाइए नहीं। और वहाँ काम भी उन्हीं का है फिर आप चलते तब भी क्या कर सकते थे?"

"हाँ ! मैं भी मानता हूँ और इस कारण अपने मन को बहुत सँभालने का प्रयत्न करता हूँ परंतु ज्यों ज्यों सँभालता हूँ त्यों त्यों वह मोह में गिरता है। यह मेरे मन की दुर्बलता है। और संसारी बनने के लिये इसे अवतारों तक ने दिखाया है।"

"बेशक ! परंतु क्या उन्होंने दृढ़ता नहीं दिखाई है ? वे यदि दृढ़ता न दिखाते तो राजा हरिश्चंद्र को विश्वामित्रजी के कोपानल की आहुति बन जाने का अवसर ही क्यों आता ? महाराज दशरथ ही विरहानल में क्यों भस्म होते और भगवान् रामचंद्र ही क्यों पिता की आज्ञा से वनवासी बनकर चौदह वर्ष का संकट उठाते ? सास के समझाने और पति के आज्ञा देने पर भी हठ करके माता जानकी क्यों भगवान् के साथ जातीं ? ऐसे अनेक उदाहरण हैं। पुराणों में ऐसे ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे। मुझ (मुसकुराकर) गँवारी को आपने ही सुना सुनाकर......"

प्रियंवदा की बात काटकर हँसते हुए—"पंडितायिन बनाया है और वह पंडितायिन आज एक गँवार को उपदेश देकर पंडित बना रही है।"

"जाओ जी ! (जरा मुँह फेरकर मान दिखाती हुई) आप तो हर बार दिल्लगी कर बैठते हैं ! यह हर बार की हँसी अच्छी नहीं।"

"हाँ ठीक तो है ! आज इस तरह रूठने की भी शिक्षा मिली। (गाल फुलाकर प्यारी की नकल करते हुए) आज से हम भी इस तरह मान किया करेंगे।"

"मान तो स्त्रियों को ही शोभा देता है।"

"अच्छा मान लो कि मैं आपकी स्त्री ही हूँ।"

"खूब, तब आज से लहँगा पहनकर घर में रहिए।"

"और आप मर्द बनकर लुगाइयों को, नहीं नहीं लोगों को अपने नेत्रों का निशाना बनाते फिरिए।"

"बस बस! बहुत हुई! रहने दो तुम्हारी दिल्लगी। क्या मैं कुलटा हूँ जो लोगों को अपनी आँखों का निशाना बनाती फिरूँगी! क्षमा करो। गाली न दो।"

"नहीं! नाराज न हो। भला (अपनी ओर इशारा करके) इस घँघरिया की क्या ताब जो आप जैसे मर्द को नाराज कर सके! (अपने हाथ से सज सजकर मर्दाने कपड़े पहनाते हुए) आप मर्द और मैं लुगाई!" कुछ लजाती, तिउरियाँ नचा नचाकर पति को हलके हलके हाथ से धकियाती कपड़ों को हटाती हुई—"बस साहब, बहुत हुआ! खूब मर्द बनाया! हद हो गई!" कहकर ज्योंही प्रियंवदा ने "आप मुझे आदमी बनाते हो तो मैं भी आपको लहँगा पहना सकती हूँ" कहते हुए खूँटी पर से लहँगा उतारा और नीचे से—"पंडितजी महाराज! किवाड़ा खोलियो" की आवाज आई। प्रियंवदा सिर पर से केसरिया साफा उतारती हुई कपड़ों को समेटकर भीतर भाग गई और पंडितजी ने गंभीर बनकर कुंडी खोलते हुए "आइए महाराज!" कहकर आनेवाले को गद्दी पर बिठलाया। घर के जो जो आदमी उधर इधर किसी

न किसी काम के लिये बाहर गए हुए थे वे दस मिनट में सब इकट्ठे हो गए और तब ज्योंही आनेवाले ने "सावधाना भवंतु" कहकर प्रयागमाहात्म्य सुनाने के लिये पुस्तक खोली, भोला कहार सबके बीच में खड़ा होकर बड़बड़ाने लगा—

"ऐसा हत्यारा पंडत! राम! राम!! थू थू! मछली खानेवाला पंडत!" एक गँवार कहार के मुख से एक विद्वान् का और सो भी कथाव्यास का अपमान सुनकर पंडित प्रियानाथ को बहुत क्रोध आया। उनका मिजाज लगाम तुड़ाकर यहाँ तक बेकाबू हो गया कि वह भोला को मारने दौड़े। उसने कहा "चाहे आप मारो चाहे काटो पर ऐसे मछली खानेवाले पंडत नहीं होते। हम गँवार कहार भी जब तीर्थों में आकर ऐसा बुरा काम करना छोड़ देते हैं तब यह पंडत होकर ऐसा कुकर्म करते हैं! झूठ मानो तो पूछ लो इन पंडतजी से। मैंने अभी इनको मछलियाँ खरीदते हुए देखा है।"

इस पर जब प्रियानाथ ने पंडितजी से पूछा तब वह शर्माकर गर्दन नीची झुकाए सिटपिटाकर बोले—"हाँ महाराज, छिपाने से कुछ लाभ नहीं! हम लोग खाते हैं और शास्त्र में विधि भी है।"

"नहीं! विधि नहीं हो सकती। निषेध है। मनुस्मृति में स्पष्ट है—

"यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत्॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥
यो बंधनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यंतमश्नुते ॥
यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥
नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत ॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबंधौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥
न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥
अनुमंता विशसिता निहंता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्य पितॄन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥
वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥
फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥
मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदंति मनीषिणः ॥

अर्थात्—जो जिसके मांस को भक्षण करता है वह (केवल) उसी का भक्षक कहलाता है किंतु मछली खानेवाले समस्त मांसों के खानेवाले हैं। जो आत्मसुख के लिये प्राणियों का वध करते हैं, उन्हें सताते हैं उनको न तो जीने में सुख मिलता है और न मरने पर स्वर्ग। जो मनुष्य (कभी) किसी प्राणी को बाँधने तथा मार डालने (तक) की इच्छा मात्र भी नहीं करता वह सबका शुभचिंतक है और वही सदा सर्वदा सुख से रहता है। जो मनुष्य कभी किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता उसका ईश्वर में ध्यान, शुभ कर्म और सद्धर्म बिना यत्न किए ही सिद्ध हो जाते हैं (क्योंकि धर्म के सद्नुष्ठानों के लिये हिंसा एक बलवान् बाधक है)। प्राणियों की हिंसा किए बिना कदापि मांस नहीं मिल सकता और हिंसा करने से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं, इसलिये मांस को छोड़ दो। मांस की उत्पत्ति ही रज-वीर्य से है–(उस शुक्र-शोणित से जिसके निकल पड़ने से स्नान की आवश्यकता होती है)–मांस प्राप्त करने में जीव को बांधना, मारना पड़ता है इस कारण किसी जीव का मांस न खाना चाहिए। जो मनुष्य विधिहीन पिशाच की नाईं मांस नहीं खाता है वही जगत का प्यारा है और उसे रोगों की पीड़ा नहीं होती। मांस के लिये सम्मति देनेवाला, प्राणी के अंगों को काटनेवाला, उसका वध करनेवाला, उसे बेचने और खरीदनेवाला, उसे पकानेवाला, चुरानेवाला और खाने-वाला ये सब मारनेवाले के समान हैं। जो मनुष्य यज्ञादि के

बिना पराए मांस से अपने मांस को बढ़ाता है उसके समान कोई पापी नहीं है। जो प्रति वर्ष अश्वमेध यज्ञ करता हुआ सौ अश्वमेध कर जाता है और उससे जो पुण्य होता है वह पुण्य मांस न खानेवाले के पुण्य से बढ़कर नहां है। पवित्र कंद मूल फल के खाने से, शुद्ध मुनियों के अन्न का भोजन करने से जो पुण्य होता है वही मांस न खाने से। जिस किसी प्राणी का मांस इस लोक में खाया जाता है वही प्राणी परलोक में उस भक्षक का मांस खाता है, यही मनीषियों की आज्ञा है। समझे महाराज!"

"हाँ धर्मावतार! समझा, परंतु आपके प्रमाणों में भी तो यज्ञ की विधि है।"

"बेशक विधि है किंतु प्रथम तो उन्हीं में देखिए अश्वमेध से बढ़कर कोई यज्ञ नहीं और सो भी सौ अश्वमेध। सौ अश्वमेध के कर्ता इंद्र से भी बढ़कर मांसत्यागी बतलाया गया है, फिर आपको जहाँ विधि के वचन दिखलाई देते हैं वहाँ भी निषेध से ही तात्पर्य है क्योंकि 'न नौ मन तेल होगा और न बीबी नाचेंगी!' श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंद में यह बात स्पष्ट कर दी है। जैसे—

"लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जंतोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥"

अर्थात्—संसार में स्त्री-संग, मांस, मदिरा—इनकी ओर स्वभाव से प्रवृत्ति है। यह धर्म नहीं है किंतु अधर्म समझ-

कर ही उसे रोकने के लिये विवाह, यज्ञ और सुराग्रह में उनके लिये व्यवस्था की गई है। क्यों महाराज! अब तो ध्यान में आया?"

"आया यजमान! आया!!"

"अच्छा खैर! यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि आप लोगों के लिये धर्मशास्त्रकारों ने विधि दे दी है तो क्या जिनका मांस आप लोग खाते हैं उन्हें कष्ट नहीं होता। आप उनसे बलवान् हैं इसलिये, क्षमा कीजिए, आप उन्हें मार खाते हैं। भला आपसे अधिक बलवान् सिंह व्याघ्रादि यदि आपको खा जायँ तो आपको मंजूर है अथवा नहीं?" ऐसा कहते कहते प्रियानाथजी ने उनके पैर में जरा सी सुई चुभोई। दर्द होते ही कथाभट्टजी उछल पड़े। "हैं! हैं! यजमान! यह क्या करते हो?" कहकर वह "सी सी सी सी!" करने लगे और तब फिर पंडित प्रियानाथजी बोले—"क्यों आप तो इस जरा सी सुई की जरा सी नोक चुभते ही सीं सी करने लगे और जिन बिचारों का मांस खाया जाता है उनका प्राण लेने में भी आपको दया नहीं! राम राम!!"

"हाँ धर्मावतार सत्य है! वास्तव में आपने मुझे बड़ा उपदेश दिया। मैं आज भगवती भागीरथी को, तीर्थराज प्रयाग को और ब्राह्मण विद्वान् को साक्षी कराकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से कभी, प्राण-संकट पड़ने पर भी, ऐसी वस्तुओं का ग्रहण नहीं करूँगा और अब तक जो किया उसके लिये

पश्चात्ताप करूँगा। भगवती से नित्य प्रार्थना करूँगा और शास्त्र-विधि से प्रायश्चित्त करूँगा।"

"धन्य महाराज! आप वास्तव में सज्जन हैं। आपकी प्रथम सज्जनता तो इसी में है कि आपने इस कार्य को स्वीकार कर लिया क्योंकि जो मांस मछली खानेवाले हैं उनमें से अधिकांश जानते हैं कि यह काम बुरा है। बुरा समझकर भी जीभ के लालच से करते हैं और लोकलज्जा से उसे छिपाते हैं। फिर आपने मेरी सम्मति मानकर बड़ा उपकार किया।"

गौड़वाले ने इनकी बात का अनुमोदन किया और फिर कथा आरंभ होकर समाप्ति के बाद उन पंडितजी ने घर जाकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया।

प्रकरण—२६

पौराणिक प्रयाग

"मन का साक्षी मन है। जहाँ एक मन दूसरे से मिल जाता है वहाँ परस्पर एक दूसरे के मन की थाह पा लेना भी कठिन नहीं होता। सचमुच ही यह परमेश्वर का बनाया हुआ टेलीफोन है। केवल चाहिए मन विमल होना और उसमें एकाग्रता से विचार लेने की बलवती शक्ति। परमात्मा के निरंतर ध्यान करने से, वर्षों के अभ्यास से और सदाचार से यदि भगवान् कृपा करें तो वह शक्ति आ सकती है। यही नर से नारायण बनने का मार्ग है क्योंकि मन ही मनुष्य के बंधन का और छुटकारे का कारण है। आगे बड़े बड़े महात्मा ऋषि महर्षि हो गए हैं और दुनिया का उपकार करने में जिन्होंने नाम पाया है वह केवल मन को वश में करने से। किंतु यह मन भी बड़ा ही जोरदार घोड़ा है, जहाँ जरा सी लगाम ढीली हुई कि सवार राम तुरंत ही मुँह के बल गिरते हैं। बस वही मन आज दौड़ दौड़कर बारंबार कर्ण पिशाची की तरह मुझे आ आकर खबर दे रहा है कि कांतानाथ का काम हो गया। आज अकस्मात् चित्त को आनंद होता है। दक्षिण नेत्र और भुजा फड़क फड़ककर इस बात की गवाही दे रहे हैं और इसलिये भरोसा होता है कि उसकी प्रसन्नता का

शुभ संवाद अवश्य मिलना चाहिए शीघ्र आना चाहिए। आज ही, अभी।" जब इस प्रकार से वार्तालाप करते हुए पंडित प्रियानाथ प्रातःकाल के नित्य नियम से निश्चिंत होकर उठने लगे तब ही डाकिए ने आकर इनके हाथ में कांतानाथ की चिट्ठी थँभाई। पत्र इन्होंने पढ़ा, प्रियंवदा को पढ़ाया और गौड़बोले की उत्कंठा देखकर संक्षेप से उसका आशय कह दिया। इस चिट्ठी में प्रायः वे ही बातें लिखी हुई थीं जो तेई-सवें प्रकरण में हैं। उनके सिवाय इतना और लिखा था कि—

"इसका फैसला आपकी आज्ञा से आपके पधारने पर होगा। परमेश्वर आप दोनों को प्रसन्न रखें। मेरे लिये तो आप ही माता पिता हैं।"

पत्र पाकर पंडिताइन को जो आनंद हुआ वह अकथनीय है। उसका ठीक स्वरूप प्रकाशित कर देने के लिये कोश में शब्द नहीं है। अनुभव ही उसे प्रकट कर सकता है। किंतु हाँ! गौड़बोले भी सुनकर गद्गद हो गए। उन्होंने आँखों में आँसू लाकर कहा—"परमेश्वर यदि किसी को भाई दे तो ऐसा ही दे। आजकल के से जरा जरा सी बात के लिये कट मरने-वाले, अदालत लड़नेवाले भाई से तो बिन भाई ही अच्छा।"

"महाशय कहने से क्या होता है? यदि अन्नजल हुआ तो गाँव में ले जाकर उसके गुण आँखों से दिखलाऊँगा।"

वाणी से नहीं, केवल आँखों से मुखकमल को खिलाकर आधे घूँघट की ओट से पति के नेत्रों में अपने नेत्र उलझाकर

मृदु हास्य के साथ प्रियंवदा ने इस बात का अनुमोदन किया और नेत्रों की सांकेतिक भाषा में दिखला दिया कि—"छोटे भैया मेरे भी छोटे भैया हैं। भाई से भी बढ़कर प्यारे हैं।" आजकल की सी उच्छृंखल ललनाओं के समान प्रियंवदा मुखरा नहीं थी, यद्यपि वह गौड़बोले के आगे फिरती डोलती थी। जब यात्रा में दिन रात का साथ था तब चारा भी नहीं था किंतु कभी उन्होंने इसका मुख नहीं देखा। कभी इसने उनके सामने किसी से बातचीत नहीं की। इस समय भी दोनों के लोचन-पक्षों की उलझन चौखट की आड़ में से हुई। प्रियंवदा कमरे के भीतरी किवाड़ की ओट में और उसके प्राणनाथ बाहर। बादल में से छिपकर बार बार निकलनेवाले चंद्रमा की तरह प्रियतम को प्रेयसी के दर्शन का अवश्य आनंद प्राप्त हुआ किंतु गौड़बोले जैसे सात्विक ब्राह्मण की दृष्टि भी यदि उधर पड़ जाय तो "राम राम !" उस पर सौ घड़े पानी पड़ जाय। उसका भाव प्रियंवदा के लिये माता का सा था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने "रामायण-मानस" में अपनी आराध्य देवी माता जानकी के नखशिख का वर्णन न किया, इस बात को बहुत "खूबसूरती" के साथ टाल दिया। उनका यह कार्य प्राचीन कवियों से भी "सब-कत" ले गया। यही उसकी धारणा थी और जब कभी प्रसंग आता वह इस कार्य के लिये गोसाईंजी की प्रशंसा किए बिना नहीं रहता था।

अस्तु ! प्रयाग में आकर इन लोगों ने वहाँ के सब ही मुख्य मुख्य तीर्थों में, देवालयों में और पुण्यस्थलों में जो आनंद पाया, जिस तरह इन्होंने अपने लोचन सुफल किए और जैसी इनके अंत:करण की तृप्ति हुई सो तब ही मालूम हो सकता है जब पाठक पाठिकाएँ स्वयं प्रयाग पधारकर उसका अनुभव प्राप्त करें। चाहे विद्वानों की भाषा में उसे प्रकाशित कर देने की सामर्थ्य हो तो हो सकती है किंतु इस उपन्यास-लेखक की भाषा पोच है और वह मानता भी है कि अनुभव का मजा अनुभव में ही है। हाँ ! पंडित प्रियानाथजी के अनुभव की दो चार बातें यहाँ प्रकाशित किए बिना यदि वह वहाँ से कूच कर जायँ तो समझना होगा कि उन्होंने अपनी यात्रा के उद्देश्य में कसर कर दी। उनके कर्तव्य-पालन में "परंतु" लग गया।

पंडितजी के अनुभव का बुरा और भला खाका गत प्रकरणों में लिखा जा चुका है और शेष इस तरह है। इन सबका ही यह नियम था कि वे नित्य शरीर कृत्य से निवृत्त होकर स्नान संध्यादि नित्य नियम के अनंतर और भोजन से पूर्व तीर्थयात्रा किया करते थे। लोग इनसे कहते भी कि अधिक भूख मारने से बीमार हो जाओगे किंतु इन्हें यह बात पसंद नहीं थी। और जैसे कट्टर यह थे वैसा ही बूढ़ा भगवान-दास। बस इसी लिये नित्य के नियमानुसार आज इन्होंने पार जाने की तैयारी की। पार जाने पर वल्लभ संप्रदाय के संस्था-

एक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज की अरैल में बैठक और भूसी (प्रतिष्ठानपुर) में महात्माओं के दर्शन हुए। बस ये दो ही मुख्य थे। पंडितजी अनन्य वैष्णव थे और गौड़बोले अनन्य शैव। मतामत पर इन दोनों पंडितों में विवाद, नहीं नहीं, संवाद भी बहुत हुआ करता था किंतु इन दोनों में एक कारण से पटती भी कम नहीं थी, क्योंकि दोनों ही हठधर्मी नहीं थे, दुराग्रही नहीं थे और दोनों ही गोस्वामी तुलसी-दासजी की तरह दोनों को माननेवाले थे। और जब कोई इन्हें छेड़ता यह कह दिया करते थे कि—

"विष्णु के आराध्य देव शिव और शिव के इष्टदेव विष्णु। हम नहीं कह सकते कि दोनों में कौन बड़ा है। जब भक्त का और पतिव्रता स्त्री का दर्जा समान है तब हमारे लिये तो हमारा इष्टदेव ही मुख्य है।"

तर्क करनेवाले जब एक ओर से शिवपुराणादि की कथाएँ इनके सामने रखकर शिवजी की प्रधानता सिद्ध करते थे तब वैष्णव लोग श्रीमद्भागवत में से महर्षि भृगु की परीक्षा से विष्णु की प्रधानता का चित्र इनके सामने ला खड़ा करते थे, किंतु इन दोनों का सिद्धांत अटल था और मन ही मन, कभी एकांत में पति से जबानी भी, प्रियंवदा कहा करती थी कि—

"इसका अनुभव जैसा स्त्रियों को होता है वैसा पुरुषों को नहीं। संसार में सुंदर से सुंदर और गुणवान् से गुणवान् पुरुष मौजूद होने पर भी जैसे एक पतिव्रता के लिये उसके

लूले, लँगड़े, अंधे, अपाहिज, कुरूप, दुर्गुणी, व्यभिचारी पति की समानता कोई नहीं कर सकता वैसे ही मनुष्य के लिये उसका इष्टदेव है।"

अस्तु, भगवान् वल्लभाचार्य महाप्रभु की बैठक में पहुँचकर इन लोगों की परस्पर जो बातें हुईं उसका सार यह है। पंडितजी बोले—

"आजकल, रेल से, तार से और छापे से, किसी साधारण मनुष्य के हाथ से यदि कोई अच्छा या बुरा काम हो तो उसका देश भर में डंका पिट जाता है, किंतु जिस समय ऐसे ऐसे आचार्यों का जन्म हुआ ऐसी किसी प्रकार की सुविधा नहीं थी। और तो क्या चोरों से, लुटेरों से और दुष्टों से रास्ता चलना, घर से बाहर निकलना भी कठिन था। कहते हुए हृदय विदीर्ण होता है, भगवान् वैसा समय कभी इस देश को न दिखलावे। परमेश्वर अँगरेजों का भला करे, देश में ऐसी शांति विराजमान होने का यश इन्हीं को है। नहीं तो भगवान् वल्लभाचार्य का जिस समय प्रादुर्भाव हुआ धार्मिक हिंदुओं के लिये घर बैठे भी खैर नहीं थी। उनके ग्रंथरत्न जला जलाकर दुष्टों ने हम्माम गर्म करने में दुनिया का सर्वनाश किया और हजारों हिंदू लौंडी-गुलाम बना दिए गए। ऐसे समय में जिस महात्मा ने प्रेम और भक्ति का प्रचार किया, देश भर में धर्म का डंका बजा दिया वह यदि महाप्रभु न कहलावे तो क्या आजकल के मतप्रवर्तक? वास्तव में भगवान्

शंकर ने जिस तरह बौद्धों को परास्त कर सत्य सनातनधर्म की देश भर में दुहाई फेरी और इसलिये जैसे शंकराचार्य को साक्षात् शंकर कहा जाने में बिलकुल अत्युक्ति नहीं उसी तरह वैष्णवों के इन चारों संप्रदायों के आचार्यों ने हिंदू धर्म का उद्धार किया है। पुराणों में इस बात का पता लगता है कि ये परमेश्वर के अवतार थे। उन्हीं में से मेरे आराध्य देव भगवान् महाप्रभु की यह बैठक है। शास्त्रों में इस बात का प्रमाण मौजूद है कि जिस कुल में सोमयाग (यज्ञ) हों उनमें भगवान अवतार धारण करते हैं। इनके पूर्वपुरुषों ने इतने यज्ञों का अनुष्ठान किया और इसलिये भक्ति-रस के अमृत से हिंदुओं के अंतःकरण को पवित्र करने के लिये, संसारी जीवों का उद्धार करने के लिये, इन्होंने इस पुण्य-भूमि में पदा-र्पण कर शुद्धाद्वैत मत का प्रचार किया। जैसे शैव और वैष्णव, प्रायः सब ही संप्रदायों के आचार्यों का जन्म दक्षिण में हुआ था वैसे ही इनका, किंतु सत्य ही यदि इनका प्रादु-र्भाव न होता तो जो व्रजभूमि आज दिन तक स्वर्ग-सुख का आनंद दे रही है वह व्रजभूमि न रहती। आजकल के कितने ही आचार्यों की दशा देखकर, पर-मतों से द्वेष देखकर और कितने ही अन्यान्य कारणों से लोग आक्षेप करने लगे हैं और उन आक्षेपों को मेटने के लिये जितने ही ये लोग जल्दी सँभलें उतना ही भला है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि इस मत में जो प्रकार भक्ति का है वह अलौकिक है, इनकी

भगवत्-सेवा अलौकिक है और वास्तव में इस मत के प्रचार से संसार का बहुत उपकार हुआ है। यह मत भी नया नहीं है। भगवान् शिव इसके प्रवर्तक हुए हैं।"

"वास्तव में सत्य है। हमारे शिव और विष्णु संप्रदायों के जितने प्रवर्तक आचार्य हुए वे सब ही अपने अपने मत के अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने दुनिया का बड़ा उपकार किया है और उनकी भगवान् व्यासजी के जोड़ की विद्वत्ता देखकर पश्चिमी विद्वान् भी उनके आगे सिर झुकाते हैं। हमारे दर्शनों का दर्शन करके, वेद भगवान् का थोड़ा आशय जानकर, युरोप के सुप्रसिद्ध संस्कृतवेत्ता प्रोफेसर मैक्समूलर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'संस्कृत के अगाध महासागर में अभी तक किसी भी युरोपियन विद्वान् ने प्रवेश तक नहीं किया। जो हुए हैं, होते जाते हैं, वे केवल किनारे की कौड़ियाँ बीनते हैं।' परंतु महाराज, एक ही अनर्थ हो गया।"

"क्या क्या! कहो न! संकोच मत करो! मन खोलकर कहो।"

"अनर्थ यही कि उन महात्माओं की गद्दी को जो आज-कल सुशोभित करनेवाले हैं उनमें विद्वान् विरले हैं। मेरा कथन किसी एक संप्रदाय के लिये नहीं है। हाँ! इन तीर्थ-गुरुओं की तरह बाप के बाद बेटा और बेटे के अनंतर पोता, इस तरह गद्दी पर बैठने का जो पैतृक अधिकार है वही उनके मन का खटका निकाल देता है, वे पढ़ते लिखते कुछ नहीं। वे

यों ही भोले भाइयों से चरण पुजवाते हैं और इसी कारण से जहाँ तहाँ अनेक अनाचार होते हैं।"

"हाँ मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ। वास्तव में इस तरह की अविद्या श्रद्धा पर, सनातनधर्म पर कुठार चलानेवाली है। यदि परमेश्वर उन्हें सुबुद्धि दे, किसी तरह उनके दिल में यह भय बना रहे कि विद्वान् और सदाचारी ही गद्दी के पैतृक अधिकार का वास्तविक अधिकारी है तो हिंदू धर्म का बड़ा उपकार हो, क्योंकि अभी तक सर्वसाधारण के हृदय से श्रद्धा नहीं गई है।"

इस तरह बातें करते करते ये लोग झूसी गए। जहाँ महात्माओं के निवास करने की पर्ण-कुटियाँ थीं, जहाँ वन के कंद मूल फल खाकर गंगाजल पान करने की सुविधा थी, वहा अब जंगल कटकर खेतियाँ होने लगीं। गाँव के गाँव बस गए। केवल झूसी पर ही यह दोष क्यों दिया जाय। जहाँ आज-कल प्रयाग नगर बस रहा है, जहाँ आजकल युक्त प्रांत की राजधानी है, वहाँ प्राचीन समय में ऋषियों के आश्रम थे। जहाँ आजकल व्यापार से, लेन देन से, नौकरी धंदे से रुपए ठनाठन बजते हैं वहाँ किसी दिन ऋषि महर्षि श्रोताओं को उपदेश का धन देते और भक्ति का व्यापार करते थे। जहाँ आजकल कभी कभी दीन दुखियों का हाहाकार सुनाई देता है वहाँ निरंतर वेदध्वनि कर्णकुहरों में प्रवेश कर हृदय को पवित्र किया करती थी। प्राचीन इतिहासों में, पुराणों

में, प्रयागराज की शोभा कुछ इसलिये नहीं है कि वह अच्छा जनपद है। नगर की शोभा यदि देखनी हो तो अयोध्या में मिलेगी। चाहे काल पाकर हजार पाँच सौ या इससे अधिक वर्षों से यहाँ नगर बस गया हो अथवा दारागंज, मुट्ठीगंज और कीटगंज जैसे अनेक छोटे मोटे गाँवों का मिलकर एक नगर बन गया हो किंतु प्रयाग की शोभा, सच्ची शोभा, भरद्वाज महर्षि के आश्रम से है, जब उस आश्रम में साक्षात् महर्षि-प्रवर निवास करते थे, उनके सहस्रावधि शिष्य इस पुण्यभूमि में, इस वन में अपनी अपनी कुटियाँ बनाकर रहते थे, बड़े बड़े राजा महाराजा वानप्रस्थ आश्रम का पालन कर उनसे उपदेशामृत का पान करते थे, वन के कंद मूलादि खाकर केवल त्रिवेणी-तोय से निर्वाह करना ही उनकी जीविका थी। बस झूसी की पर्ण-कुटियों, अधिक नहीं पाँच सात झोपड़ियों का दर्शन करते ही पंडितजी की आँखों के सामने यही ऊपर लिखा हुआ दृश्य आ खड़ा हुआ। उन्होंने गौड़बोले से कहा—

"समय के अनुसार आजकल का दृश्य भी बुरा नहीं है। अब भी यहाँ अनेक विद्या-मंदिर हैं, और विशाल विशाल प्रासाद हैं, किंतु हाय ! वह पुराना, पुराणप्रसिद्ध दृश्य एकदम भारतवर्ष से लोप हो गया। समय की बलिहारी है ! जिस तपोभूमि में ऋषियों के शरीर से मृगशावक अपने सींगों को छुआ छुआकर अपनी खुजली मिटाते थे वहाँ अब इक्के, बग्घी और मोटरों की घरघराहट और "हटो बचो !" की

चिल्लाहट। जहाँ कोकिला का कलरव था वहाँ अब खोमचेवालों की पुकार। जहाँ सत्य के सिवाय झूठ सौगंद खाने को भी नहीं मिलता था वहां अब व्यापार में झूठ, व्यवहार में झूठ।"

इन लोगों ने एक एक पर्णकुटी के जाकर दर्शन किए। उनमें अच्छे अच्छे योगी भी दिखाई दिए, किंतु त्याग के बदले संग्रह, ब्रह्मानंद के स्थान में गृहत्याग का शोक। बस देखते ही इनका हृदय जल उठा "ऐसे वनवासी से तो गृहस्थ ही अच्छे। घर में रहकर यदि पंचेंद्रियों का निग्रह करें, यदि गृहस्थाश्रम का पालन किया जाय तो इस वन से वह घर हजार दर्जे अच्छा है। "इस तरह कहते हुए जब ये लोग लौटकर गंगातट पर पहुँचे तब एकाएक इनकी दृष्टि एक साधु पर पड़ी। साधु महाराज का भव्य ललाट, काषाय वस्त्र और उनकी कांति के दर्शन करके ये लोग अवश्य मंत्र-मुग्ध सर्प की तरह निश्चेष्ट, निस्तब्ध होकर टकटकी लगाए, पत्थर की मूर्ति के समान खड़े रहे। साधु कहीं से भिक्षा में दो तीन रोटियाँ लाया था। उसने उन्हें भगवती के जल में धोकर खाया। खाकर उसने दो तीन अंजुली गंगाजल पिया और तब हाथ धोकर कुल्ली करके वह अपना सिर उठाए किसी विचार में मग्न, कुछ गुन-गुनाता हुआ वहाँ से जंगल की ओर चल दिया। बस इनके मनों ने भी साधुजी का पीछा करने की जिद पकड़ी। मन की आज्ञा का वशवर्ती होकर शरीर भी साथ हुआ और इस

तरह ये लोग थक जाने पर भी एक नवीन उत्साह से उत्साहित होकर कोई मील डेढ़ मील चलने के अनंतर एक वट वृक्ष के नीचे, जहाँ साधुजी का आसन जमा हुआ था, जा पहुँचे। वहाँ जाकर "नमो नारायण !" करने के अनंतर प्रणाम करके महाराज की आज्ञा से ये बैठ गए।

प्रकरण—२७

सतयुग का समा

गत प्रकरण में स्वामी महाराज की आँख का इशारा पाकर हमारी यात्रा-पार्टी बैठ अवश्य गई और हाथ जोड़े बैठी रही, किंतु उधर साधु बाबा मौन और इधर ये लोग चुपचाप। उनकी तपस्या का, उनकी कांति का और उनके आतंक का तेज देखकर जब ये लोग उनसे धुन मिलाने में ही असमर्थ हैं तब बोलना कैसा ! जब जब ये उनकी ओर आँखें उठाकर देखते हैं तब ही तब इनके नेत्र झेंप जाते हैं। ज्येष्ठ के सूर्य की प्रखर किरणों में से जैसे तेज बरसा करता है, शरद् के विमल चंद्रमा में से जैसे अमृतवर्षा होती है, वैसे ही इनके नेत्र मंडलों की एक अद्भुत ज्योति अपना प्रभाव बरसा बरसा-कर इन लोगों के हृदय में अलौकिक आनंद उत्पन्न कर रही है। इस तरह निश्चेष्ट, निस्तब्ध देखकर, किसी का भी अपने ऊपर लक्ष न पाकर प्रियंवदा के नेत्रों ने प्रियानाथ के लोचनों से झेंपते झेंपते, लजाते लजाते इतना अवश्य कह दिया—"वे ही हैं !" पंडित जी की आंखों ने—"हाँ वे ही हैं" कहकर अनु-मोदन भी कर दिया। किंतु सचमुच ही यहाँ कम से कम आधे घंटे तक बिलकुल मूकराज्य रहा, सन्नाटा छाया रहा। और यदि वट वृक्ष की ओट में से कोई उस चुप्पी को तोड़ने-

वाला न मिलता तो शायद दिन निकलकर रात्रि भी योंही निकल जाती, क्योंकि न तो इन लोगों की यही इच्छा होती थी कि "चलें अब देरी बहुत हो गई।" और न किसी का उस चुप्पाचुप्पी को तोड़ने का हियाव था।

अस्तु! वृक्ष की ओट में से दूसरा साधु बोला—"मौनी बाबा हैं। अपने अपने घर जाओ। इनको सताओ मत। तुम्हें जो कुछ प्रश्न करना हो काशी के वरुणासंगम की गुफा में इनके गुरु महाराज से करना। चले जाओ।" यह कहकर वह चल दिया। पहले वह धीरे धीरे चला और फिर इन लोगों को देखकर मानो उसने किसी को पहचान लिया हो, ऐसी मुद्रा दिखाई और तब आँख फड़कने के साथ ही वह भागकर यह गया! वह गया!! हवा हो गया! जैसे उसने इनको पहचाना वैसे ही इनमें से भी दो जनों ने उसे पहचाना। बूढ़ा भगवानदास बोला—"हाय! हाय! हाथ आया हुआ गया।" और प्रियंवदा ने—"वही है! हाँ वही!" का इशारा करके पति को समझाने का प्रयत्न किया। पति राम समझे या नहीं, सो नहीं कहा जा सकता परंतु ये लोग जब महाराज के आगे साष्टांग प्रणाम करके गंगातीर आए तब इन्होंने दूर से देखा कि उस भागनेवाले साधु को चार आदमी बाँधे लिए आ रहे हैं और वह उनसे हाथ जोड़कर, चिरौरी करके हाहा खाकर कहता जाता है—"मैं तुम्हारी गौ हूँ। मुझे छोड़ दो।" किंतु लानेवाले मानो उसकी खुशामद पर कान

ही नहीं देते और जब वह छुटकारा पाने के लिये मचल जाता है तब "वाह, कैसे छोड़ दें ? गहरा इनाम मिलेगा।" कहकर उसे घसीटने लगते हैं। खैर ! घसीटते हैं तो घसीटने दीजिए। जब उसे घसीटते घसीटते वे चारों दूर ले गए, अब देखते देखते वे आँखों से गायब हो गए, जब बहुत जोर मारने पर भी नेत्र-हरकारों ने उनका पीछा करने से जवाब दे दिया तब उसका पता पाने का चारा ही क्या है ? और इस समय जब उनका पता लगाना बन ही नहीं सकता तब बूढ़े भगवानदास और प्रियंवदा के हृद्गत भावों को यहाँ प्रकाशित करना भी किस्से का मजा किरकिरा कर देना है। हां ! इतना यहां लिख देना चाहिए कि वह मौनी बाबा, कांतानाथ के श्वसुर पंडित वृंदावनविहारी थे और तार के साथ जो पर्चा छोटे भैया को मिला था वह इन्हीं का लिखा हुआ था। जो बात तार में थी वही शब्दों की कुछ अदल बदल के सिवाय पर्चे में थी। इसलिये उसकी नकल प्रकाशित करने से कुछ लाभ नहीं।

हमारी यात्रापार्टी आज नित्य की अपेक्षा अधिक मंजिल मारने और भोजन में अतिकाल हो जाने से लड़खड़ा गई थी। इसलिये सब के सब खा पीकर पड़ रहे और ऐसे पड़े कि जब तक प्रात:काल के टनाटन पांच न बजे इन्होंने करवट तक न बदली। "ओहो, बड़ा विलंब हो गया !" कहकर पंडितजी जागे। उनके साथ ही और सब जागे और तब नित्य-कृत्य से निवृत्त होकर नित्य के समान ये लोग चल दिए।

आज इनका दौरा किले के लिये था। वहाँ जाकर इन्होंने दुर्ग की छटा देखी जिसे प्रकाशित करने से तो इस उपन्यास का लगाव नहीं। हाँ! अक्षयवट की गुहा में पहले जो घोर अंधकार रहता था और इस कारण वहाँ के पंडे यात्रियों से मनमाना ऐंठते थे, पवन के अभाव से दिन दहाड़े अंधकार में दम घुट घुटकर जो यात्री दुःख पाते थे उन पर कृपा करके गवर्मेंट ने जब वहाँ प्रकाश पहुँचाने का अच्छा प्रबंध कर दिया तो अवश्य ही धन्यवाद का काम किया। पंडों ने आज इनसे भी बहुत धींगामस्ती मचाई। पहले इन्हें जाने ही से रोका और फिर माँग मूँग में इन्हें तंग कर डाला। खैर, जैसे तैसे ये लोग भीतर पहुँचे।

भीतर जाने के अनंतर वहाँ का दृश्य देखकर इन लोगों के मन में जो भाव उत्पन्न हुए उनका निष्कर्ष यह है। पंडितजी बोले—

"इस अक्षयवट को (प्रणाम करके) लोग अनादि काल का बतलाते हैं। होगा। हम प्राचीन बातों की खोज करनेवाले "एंटीक्वेरियन" नहीं जो इस बात की तलाश के लिये सिर मारते फिरें। यदि यह हजार दो हजार अथवा लाख वर्षों का निकल आवे तो अच्छी बात है। अनजान आदमियों की भक्ति चमत्कार से होती है किंतु हम मूर्ति में चमत्कार देखने की आवश्यकता नहीं समझते। मूर्ति जिसके लिये निर्माण की जाय उसके गुणों की याद दिलाने का वह साधन है। पर-मेश्वर चाहे साकार हो अथवा निराकार, वह तो जैसे अधिकारी

के लिये वैसा ही है। हमारे विचार से तो साकार है और साकार होना अनेक युक्ति प्रमाणों से सिद्ध है, किंतु यदि निरा-कार भी हो तो जब तक उसे साकार बनाकर उसकी मूर्ति आँखों के सामने खड़ी न की जाय तब तक वह ध्यान में नहीं आ सकता, कदापि नहीं आ सकता। जो निराकार है, जिसके हाथ पैर ही नहीं, उसका ध्यान में आवे ही क्या? बस आज इस अक्षयवट के दर्शन होते ही (फिर प्रणाम करके) सतयुग का समा नेत्रों के सामने आ खड़ा हुआ। यह हमारे चर्मचक्षुओं से चाहे वटवृक्ष का ठुंठ ही क्यों न दिखलाई दे किंतु यह कह रहा है कि "यदि युगधर्म ने मेरे पत्र फलादि, शाखा प्रशाखादि नष्ट कर डाले हैं तो कुछ चिंता नहीं। तुम डरो मत। मैं ही सनातनधर्म की मूर्ति हूँ। यदि तुम बराबर मेरी सेवा करके मेरा नाम मात्र भी रख सकोगे तो भगवान् कल्कि के अवतार लेने पर प्यारा सनातनधर्म जैसे अपनी पूर्व स्थिति को पहुँच जायगा वैसे ही मैं भी हरा भरा हो जाऊँगा।"

"हाँ! यथार्थ है, परंतु महाराज! (हाथ पकड़कर दिखाता हुआ) देखो तो सही प्राचीन ऋषि मुनियों की, देवताओं की सभा! सबके मन इस स्थान पर इकट्ठे होकर मानो हिंदू धर्म के होनहार पर विचार कर रहे हैं। आज जिनकी मूर्तियाँ दर्शन दे रही हैं किसी दिन वे स्वयं इसी त्रिवेणी तीर पर इकट्ठे होकर उपदेशामृत की, धर्मामृत की वर्षा करते थे। क्यों! इनके दर्शनों से वही भाव मन में पैदा होता

है या नहीं ? यदि उत्पन्न होता है तो अपने मन की पट्टी पर विचार की लेखनी से उस प्राचीन दृश्य का चित्र तैयार करो। वह चित्र अमिट होगा और ज्योंही तुम्हारी शक्ति अमिट हुई अपना उद्धार समझो, क्योंकि विचारशक्ति की विमलता, दृढ़ता और दूरदर्शिता ही ईश्वर के चरणों में पहुँचा देने का पुष्पक विमान है। शस्त्र के बल से नहीं, धन की ताकत से नहीं, सेना के समुदाय से नहीं, शरीर की सामर्थ्य से नहीं, विचार शक्ति से, केवल "विल पावर" से आदमी इंद्र के सिंहासन को डिगा देता है। भारत के, विलायत के, जिन महानुभावों के हाथ से संसार का उपकार हुआ है, केवल उनकी इसी शक्ति से। इस शक्ति के साथ मंत्रों का बल है और यही प्राचीन समय के अस्त्र हैं। सार्वभौम परीक्षित के पुत्र जनमेजय के सर्पयज्ञ में तक्षक को लिए हुए इंद्र का सिंहासन केवल इसी से यज्ञभूमि के ऊपर आ लटका था।"

'बेशक, ठीक है, परंतु देखिए न! इधर इधर! दहनी ओर! भगवान् यमराज की मूर्ति! अहा, कैसी भयानक है! जब मूर्ति के दर्शन करने ही पर शरीर में कँपकँपी होती है तब यदि प्रत्यक्ष दर्शन हो जाय तो? ओ हो! क्रोध से नेत्र फैल फैलकर निकले पड़ रहे हैं। महाराज की सवारी का भैंसा भयभीत होकर आगे बढ़ने के बदले पीछे को हट रहा है। एक हाथ में कालपाश है और दूसरे में खड्ग। मानों इस पाश से पापी को बाँधकर इस खड्ग से उसकी गर्दन मारी

जायगा। इसी लिये खड्ग ऊँचे को उठाया जा रहा है। परंतु आज इतना कोप किस पर है? एक छोटे से बालक पर! ब्राह्मण बटु पर! जिसके आतंक से भयभीत होकर बड़े बड़े भी काँपा करते हैं उसका एक बालक पर, निरे बालक पर, इतना क्रोध? ओ हो! अच्छी कथा याद आ गई। यह बालक ही महर्षि मार्कंडेय हैं, बड़ा ढीठ है। बालक क्यों है। भगवान् शङ्कर की मूर्ति से लिपटकर इसमें यमराज से भी अधिक बल आ गया। अवश्य आज ऐसा ही बल है। बल है तब ही तो उस यमराज की ओर, जिसके दर्शन से ब्रह्मादिक देवता तक घबड़ाते हैं, आज देख देखकर हँस रहा है, हँस क्या रहा है मानों चिढ़ा रहा है। कह रहा है कि अब मैं जगत् के कल्याण करनेवाले भगवान् शंकर की शरण में हूँ। एक महर्षि के वरदान से मैं सात दिन, मनुष्य के नहीं, ब्रह्माजी के सात दिन सात सौ चतुर्युगियों तक अमर हूँ। आप मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकते।"

"वाह! शरणागत-वत्सलता का कैसा ज्वलंत उदाहरण है। ब्राह्मणों की शक्ति का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण! एक वह समय था जब ब्राह्मणों में अपने तपोबल से, अपने सदाचार के बल से, और अपनी मानसिक शक्ति से यमराज की आज्ञा तक उलट देने की क्षमता थी। यदि ब्राह्मण निर्लोभ होकर, सदाचारी बनकर अब भी केवल कंदमूलादि से निर्वाह करता हुआ तपश्चर्या करे तो उसके लिये वैसी शक्ति आना कुछ दूर नहीं,

और जातियों की अपेक्षा निकट है, क्योंकि उसके अंत:करण में अपने पूर्व पुरुषों की उस अनंत शक्ति का लेश है। उस बीज में अंकुर लगकर बड़ा वृक्ष बन सकता है।"

"परंतु देखिए। इस कथा ने यह स्पष्ट कर दिया कि जिनमें शापानुग्रह करने की सामर्थ्य थी वे भी परमेश्वर के नियम का परिवर्तन नहीं कर सकते थे। उस ब्राह्मण शरीर के आशीर्वाद से मार्कंडेय की आयु मनुष्य के सात दिन से ब्रह्मा के सात दिन की हो गई, किंतु रहे सात के सात ही।"

"हाँ! अवश्य!" कहकर गौड़बोले महाशय ने यह संवाद समाप्त किया और यों इनके मुकाम पर पहुँचने के साथ ही, एक सप्ताह में प्रयाग की यात्रा भी समाप्त हो गई। यहाँ आकर इन लोगों ने भोजनादि से निवृत्त होकर अपना असबाब बाँधा। बाँध बूँधकर जिस समय स्टेशन पर जाने के लिये गाड़ियों में सामान लादा जा रहा था उसी समय त्रिवेणी-तट का यात्री पूछता पूछता पंडितजी से मिलने के लिये आया। पंडितजी ने उसे अवश्य परदेशी समझ लिया था किंतु था वह वहीं का तीर्थगुरु ब्राह्मण। उसका नाम था नारायण। बस नारायण से पंडितजी की जो बातचीत हुई उसका सार यह है—

"तीर्थ के भिखारियों की दशा देखकर यहाँ एक दीन-शाला खोलने की आवश्यकता जान पड़ती है। केवल यहीं क्यों प्रत्येक तीर्थ में। ऐसा करने से जो वास्तव में दीन हैं

उनका भले प्रकार भरण पोषण हो जायगा और जो बनावटी हैं वे लज्जित होकर काम धंधे में लगेंगे। यों यात्रियों का भी पिंड छूट सकता है। वे तीर्थ पर आकर दान अवश्य करें, यथाशक्ति करते ही हैं, परंतु उसके द्वारा करने से उन्हें भी आराम मिलेगा। तीर्थगुरुओं के बालकों की शिक्षा के लिये जो पाठशाला है उसमें मेरी ओर से (नोट देकर) यह आप जमा कर दीजिए। पाठशाला ऊँचे पाए पर स्थापित होनी चाहिए। बैलों और मछलियों की दुर्दशा पर प्रयाग में आंदोलन कीजिए। सबसे बढ़कर उपाय यही है कि जो धर्मसभा यहाँ की अस्त हो गई है उसका फिर से उदय हो। राजभक्ति उसका मुख्य उद्देश्य है और रहना भी चाहिए। यदि धर्मसभा के प्राचीन मेंबरों को फिर जागृत किया जाय तो सब ही दुर्लभ कार्य सुगम और सरल हो सकते हैं।"

"हाँ ऐसा ही होगा!" कहकर नारायणप्रसाद अपने घर गए और ये लोग गाड़ियों पर सवार होकर प्रयाग के रेलवे स्टेशन पर जा पहुँचे।"

प्रकरण—२८

कांतानाथ के घरेलू धंधे

तेईसवें प्रकरण के अंत में अंतःकरण में बहुत ही खेद होने पर भी यात्रा का परित्याग करने के अनंतर, धर्मामृत का प्याला होंठ से लगा लगाया छिन जाने पर, गृहस्थाश्रम के सुख की मिट्टी पलीत हो जाने पर पंडित कांतानाथ को मन मार-कर अवश्य घर रहना पड़ा, और वह रहे भी चार टिक्कड़ अपने हाथ से जले भुने खाने के बाद मग्न, और ईश्वर की ऐसी ही इच्छा अथवा कर्म के ऐसे ही भोग समझकर उन्होंने इस दुःख को विशेष दुःख नहीं माना। वह पंडित रमानाथ शास्त्री जैसे विद्वान् के पुत्र और पंडित प्रियानाथ एम० ए० जैसे महानुभाव के जब भाई थे और जब स्वयं पढ़े लिखे थे तब ऐसी विपत्ति पड़ने पर घबड़ाते भी तो क्यों? उनका सिद्धांत था कि विपत्ति ही मनुष्य के मन को विमल करने की कसौटी है। "विपति बराबर सुख नहीं जो थोड़े दिन होय।"—यह उनका मोटो था। बस इसलिये वह इस दुःख को भी सुख मानकर आनंद से घर रहे।

इनके माता पिता का देहांत हो ही चुका था। घर में दोनों भाई और दोनों की बहुओं के सिवाय कोई नहीं था। यद्यपि पिताजी दोनों भाइयों का परस्पर भरत और राम का

या प्रेम देखकर भी स्त्रियों की लड़ाई से कभी आपस में झगड़ा खड़ा न होने पावे, इस भय से अपनी स्थिर और चल जीविका के दो बराबर हिस्से कर मरे थे, परंतु बड़े भाई की ओर से सब कारबार के मालिक छोटे भैया थे। इसी कारण बड़े भाई की आज्ञा से उन्हें रेलवे की नौकरी छोड़कर पिता का स्वर्गवास हो जाने के बाद घर में ही रहना पड़ा था। पंडित प्रियानाथ एक ऊँचे दर्जे पर गवर्मेंट के डाक विभाग में नौकर थे और पहले प्रकरण में हमारे पाठकों ने जब उनको आबू पहाड़ पर देखा तब कुछ ऐसे ही काम के लिये उनका वहाँ जाना हुआ था। वह जहाँ रहते प्रियंवदा को साथ रखते थे। दौरा करते समय पर्देदार औरत को साथ रखने में उन्हें कुछ कष्ट भी उठाना पड़ता था किंतु यदि छाया शरीर से अलग रहे तो प्रियंवदा पति से जुदी रहे—यही उसका उत्तर था। इनके घर में मुसलमानों, कायस्थों और क्षत्रियों का सा ऐसा पर्दा भी नहीं था जिसके मारे सुकुमार ललनाएँ घर के जेलखाने में दम घुट घुटकर मर जायँ और ऐसे बेपर्द भी नहीं जिनकी महिलाएँ मुँह खोलकर पर-पुरुष से हँसी मजाक करें, पुरुष-समाज में खड़ी होकर लेक्चर फटकारें। पर्दा इस प्रकार का था कि घर के भीतर जनाने में दस पंद्रह वर्ष के लड़कों के सिवाय, खास खास नातेदारों के सिवाय कोई न आने पावे, स्त्रियाँ भी जो आवें वे ऐसी आवें जिनका चलन बुरा न हो। बाप भाई इत्यादि नातेदारों को

भी युवतियों से एकांत में मिलने का अवसर न मिलने पावे। जब जाति बिरादरी में जाने के लिये, दर्शनादि के लिये मंदिर या तीर्थों में नारियों को जाने की आवश्यकता पड़े तब वे अदब के कपड़े पहनकर निकलें ताकि मार्ग में किसी को घूरने का मौका न मिले। उस दिन पति के साथ आबू पहाड़ के "सनसेट पाइंट" पर प्रियंवदा गई और वहां इसे कोई आदमी मिला भी नहीं किंतु वह जब तक जीवित रही सदा ही समय समय पर पति से इस बात के लिये उलहना दिया करती थी, और जब वह इस बात का जिक्र छेड़ती तब ही पति राम भी आबू के संन्यासी से एकांत में पुत्र माँगने के न मालूम क्या क्या अर्थ लगाकर उसे चिढ़ा दिया करते थे। इससे कभी मान और मान से बढ़ते बढ़ते कभी प्रेम-कलह तक हो जाया करता था और जब कभी वह कसमें खा खाकर, सुबूत दे देकर अपनी सचाई सिद्ध करती तब पंडितजी हँसकर ताली पीट दिया करते थे, क्योंकि उनके पास सबसे बढ़कर सुबूत यह था कि बुढ़िया दुलरिया जो इनके यहां पचास वर्ष से नौकर थी वह उस समय मौजूद थी, वही उस साधु से बातचीत करने में थी और उसकी भलमनसाहत का सिक्का था। कोई छोटी मोटी तो क्या परंतु पंडितजी की माता तक में यदि वह कोई बात अनुचित पाती तो बेधड़क कह दिया करती थी और इस पर तुर्रा यह कि जब तक दिन भर की खबर वह अपने 'पिरिया लल्ला' को न सुना देती तब तक उसका खाना हजम

नहीं होता था। प्रियानाथ को उसने ही पाला पोसा था, इसलिये वह इनको 'पिरिया लल्ला' कहती और यह उसको 'बूढ़ी मैया' कहकर पुकारा करते थे। यात्रा से बहुत पहले उसका देहांत होने से इन्होंने उसका सब क्रिया कर्म अपने हाथ से किया था और वह यदि जीवित होती तो अवश्य इनके साथ यात्रा किए बिना न रहती, क्योंकि जब तक वह जीती रही उसका एक बार गंगाजी में हड्डियाँ न डुबोने के लिये सदा ही लल्ला के ऊपर उलहना बना रहा, और यदि सच पूछो तो इस उलहने ही ने उसका शरीर छूट जाने पर पंडितजी से यात्रा करवाई। माता के प्रेत-योनि पाने का जो प्रसंग गत प्रकरणों में आया है वह इनकी असली माता के लिये नहीं था, क्योंकि इनकी असली माता का गया श्राद्ध इनके पिता बीस वर्ष पहले स्वयं कर आए थे, और जब इन दोनों भाइयों को इस डोकरी ने ही पाला पोसा तब ये लोग उसे माता से भी बढ़कर समझते थे।

पंडित कांतानाथ ने भाई साहब की अनुपस्थिति में घर पर पड़े रहकर केवल पड़े पड़े जँभुआइयाँ लेने में और सोने खाने ही में समय का खून किया हो सो नहीं। इनके घर में रकम रखकर रुपया उधार देने का धंधा पीढ़ियों से होता चला आया था। संस्कृत पढ़ना और आत्मकल्याण के लिये पढ़ना किंतु उससे जीविका न करनी, कभी दान पुण्य न लेना, यह इनकी खानदानी धरोहर थी। इसके सिवाय सुरपुर में

जमींदारी के दस बिस्वे इनके पिता के खरीदे हुए थे। दो कुओं पर चाही खेती इनके घर में मुद्दत से चली आती थी। बस यही इनकी जीविका का चिट्ठा है, यही इनके घर की स्थिति का चित्र है। कांतानाथ को जब नौकरी छोड़कर घर पर ही रहना पड़ा और एक बूढ़े मुनीब के मर जाने पर इन्होंने जो मुनीब दूसरा नियत किया उसकी नीयत खराब देखकर इन्हें जब झख मारकर रहना पड़ा, तब यदि पुराने काम को सँभालने के सिवाय यह अपने कारबार की कुछ भी उन्नति न करें, केवल लकीर के फकीर बनकर पड़े रहें तो इन्होंने अँगरेजी पढ़कर ही क्या किया? पंडित प्रियानाथ ने अँगरेजी में एम० ए० पास किया था और कांतानाथ भी बी० ए० तक पढ़े हुए थे किंतु इनके पिता को डिगरियाँ प्राप्त कराना जितना पसंद नहीं था उतना ही उनके विचार से व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता थी। इसलिये उन्होंने घर में रखकर केवल संस्कृत का ही इन्हें अध्ययन कराया हो सो नहीं, वरन् "हिंदू गृहस्थ" में लाला ख्यालीराम के छोटे पुत्र को जिस प्रकार की शिक्षा दी गई थी उसी तरह की शिक्षा और उसी गुरु से दिलवाने में पंडित रमानाथजी ने कोताही नहीं की थी।

ऐसे ऐसे अनेक कारणों से दोनों भाइयों के अंतःकरण में कृषि और व्यापार के जो तत्व घँसे हुए थे उन्हें काम में लाने के लिये ही कांतानाथ से नौकरी का इस्तेफा दिलवाया गया था और उन्हीं में प्रवृत्त होने के लिये अब इन्हें अवसर

मिला। इन्होंने सबसे पहला काम यह किया कि खेती की उन्नति के लिये पश्चिमी साइंस ने आजकल जो नए नए आविष्कार किए हैं उनका अपने देश की परिस्थिति से मिलान किया। "शाङ्गधर ब्रज्या" इत्यादिक जो संस्कृत ग्रंथ इस विषय में पूरे या अधूरे मिलते थे, जो मुसलमानों के हम्माम में जल जाने से बचे बचाए इनके हाथ आए उनका अवलोकन कर इन्होंने खेती के काम का सुधार करने के लिये अपनी मुआफी की जमीन में नमूने के खेत तैयार करने का कार्य आरंभ किया। इस कार्य में इन्हें सफलता हुई या नहीं, सो अभी दिखला देने की अपेक्षा यात्रा से वापिस आने पर वह यदि स्वयं पंडितजी को दिखलावें तो पाठकों को इन पर रुष्ट न होना चाहिए। केवल इतना ही करके इन्हें संतोष हो गया हो सो नहीं। इन्होंने सुरपुर की जमींदारी के शेष दस बिस्वे खरीद लेने का अवसर हाथ से नहीं जाने दिया और मुर्फा के जमींदार के अचानक मर जाने से कर्जेवालों ने जब उसके कुपूत बेटे बाबूलाल को घेरा और इसलिये उस गाँव के नीलाम होने का भी जब मौका आ पहुँचा तब इस विषय का बूढ़े भगवानदास से परामर्श करके "हाँ" अथवा "ना" का तार देने के लिये भाई साहब को लिखने में भी यह न चूके।

केवल इतना ही नहीं। इनकी आकांक्षा बहुत ही ऊँची आकांक्षा थी। ये ऐसे मनुष्य नहीं थे जिन्हें केवल जमींदारी के पुराने ढचरे में पड़े रहने से संतोष हो जाय, क्योंकि दाम

और नाम, दोनों ही कमाना, दाम से भी नाम अधिक, यही इनका मूलमंत्र था। बस इसलिये दो तीन विचार इनके ध्यान में और आए। एक सुरपुर के आस पास दस दस बीस बीस कोस तक के जो जुलाहे जीविका मारी जाने से कपड़ा बुनना छोड़कर कोई खेत खोद के और कोई साईसी करके पेट पालते तथा मजदूरी न मिलने से भूखों मर रहे थे उन्हें बुलाकर "फलाई-शटल" से "हैंड-लूम" की मदद से कपड़े बुनवाना और दूसरे टोंक और मालपुरे के कारीगरों को अपने गाँव में रखकर उनसे धूगी और नमदों के सिवाय नए नए औजार देकर "फेल्ट" टोपियाँ बनवाना, तीसरा और सबसे बड़ा, एक और भी संकल्प इनके चित्त में चक्कर काटा करता था। रेलवे की नौकरी से राजपूताने के अनेक बड़े बड़े शहरों का इन्होंने खूब अनुभव कर लिया था, इस कारण इन्हें भरोसा था कि यदि काम छेड़कर वह दृढ़ पाए पर डाला जायगा तो उसमें सफलता हमारी चेरी है। काम यही कि देशी कारीगरी का विनाश हो जाने पर भी राजपूताने में वह अभी तक जो कुछ बची बचाई है उसे उत्तेजना देने के लिये अजमेर में केवल सौ सौ रुपए के एक हज़ार हिस्से से एक कंपनी खड़ी की जाय। विशेष कर राजपूताने का और साधारण में भारतवर्ष का बना हुआ माल इकट्ठा करके उसे थोड़े नफे पर बेचना। यह अच्छी तरह जानते थे कि "आर्ट्स स्कूल" की बदौलत, अच्छी उत्तेजना मिलने से जयपुर तो अब तक

कारीगरी का घर है ही किंतु राजपूताने के सब ही रजवाड़े लगभग किसी न किसी तरह की कारीगरी के लिये प्रसिद्ध हैं, जैसे बीकानेर की लोई, बूँदी की पगड़ी और कोटे के डोरिए। इनके सिवाय कानपुर, अहमदाबाद, दिल्ली, बंबई आदि की मिलों की आढ़त खोल देने से काम अच्छी तरह चल निकलने की आशा थी और राजपूताने में देशी माल पहुँचाने और वहाँ का बना हुआ तथा वहाँ की पैदावारी का माल मँगाकर अन्यत्र भेजने के लिये अजमेर से बढ़कर कोई जगह नहीं, और अजमेर के रेलवे वर्क-शाप के जो कारीगर नौकरी छोड़कर स्वतंत्र जीविका करना चाहें उन्हें उत्तेजना देनेवाला अभी तक कोई नहीं। बस इन बातों को ध्यान में लाकर इन्होंने कंपनी खोलने का एक कच्चा चिट्ठा तैयार किया और यह काम बड़ा समझकर भाई की पसंदगी पर रखा गया। राजपूताने के रजवाड़ों में गोचारण की भूमि की सुविधा देखकर गोरक्षा के काम को व्यापार के लक्ष्य से आरंभ करने का जो विचार किया सो जुदा ही।

इनकी गृहिणी सुखदा का जेवर, कपड़ा, बरतन आदि जो सामान, राई रत्ती इन्हें लूट से वापिस मिला था वह अवश्य स्त्रीधन था। जब उस स्त्री के ही यह स्वामी थे तब उसके माल पर इनकी मालिकी हो तो आश्चर्य क्या ? किंतु नहीं ! इन्होंने उसे एक भंडार में अलग रखवाकर उसकी ताली उसे दे दी और उससे ताकीद भी कर दी कि "जब तक भाई साहब

न आवें तब तक तू इसमें हाथ भी न लगाना।" वह अब बहुत ही सजा पा चुकी थी और यह कष्ट उसके मन का भूत निकालकर उसकी अकल ठिकाने ले आया था इसलिये उसने ताली वापिस देकर कह दिया कि "मुझे इससे अब कुछ काम नहीं रहा। आपकी जूँठन खाने को मिल जाय और आपकी चरण-सेवा, बस इनके सिवाय मुझे अब कुछ नहीं चाहिए।" वह अब यहाँ तक सँभल गई थी कि इनकी इच्छा न होने पर भी अपनी खुशी से घर का काम काज करती, इनकी आँख बचाकर जिस दिन इनकी धोती धोने के लिये मिल जाती अपने को कृतार्थ समझती। यहाँ आने पर भी, पिट जाने पर भी मथुरा ने जब इनका पीछा न छोड़ा तब एक दिन इसने स्वयं उसका हाथ पकड़कर उसे निकाल दिया।

चोरों को उनके अपराध के अनुसार सजा मिल गई सो लिखने की आवश्यकता नहीं। हाँ आवश्यकता है मथुरा के लिये कुछ लिखने की, सो समय आप बतला देगा।

प्रकरण—२६

घर की फूट

"बाबा को गए हुए अभी 'जुम्मा जुम्मा आठ दिन' हुए हैं। गया भी वापिस आने के लिये है। मर थोड़े ही गया है जो न लौट आवे। हट्टा कट्टा है। बहुतों को मारकर मरेगा। और रामजी उसे बनाए रखें। उसके जीने ही में भला है। 'बुढ़िया ने पीठ फेरी और चर्खे की हो गई ढेरी।' इतने ही दिनों में जब चौपट हो रहा है तब उसके सौ वर्ष पूरे होने पर न मालूम क्या गति होगी।" इस तरह कहते हुए पनघट के कुएं से घड़ा खैंचती हुई एक लुगाई जब ठंढी ठंढी आह खैंचकर रोने लगी तब दस बारह पनिहारियों ने उसे चारों ओर से घेर लिया। जिसके सिर पर भरे हुए घड़े का बोझा था वह वैसे ही खड़ी रह गई। जो पानी खैंच रही थी उसने खैंचना छोड़कर कान उधर और आँखें डोल की ओर लगाईं। सबका काम हाथ का हाथ में, डोल कुएँ में और बरतन कंधे पर रह गए। "हैं हैं! क्या हो गया? गजब क्या हुआ? कह तो सही बोर हुआ क्या?" कह कहकर सवाल पर सवाल पूछे जाने लगे। किसी ने उस औरत से सास का, किसी ने बहू का, किसी ने ननद और किसी ने भौजाई का नाता निकालकर उसके साथ सहानुभूति दिख-

लाई। समय के फेर से चाहे भारतवासियों के दिल से हम-दर्दी भाग गई हो, चाहे उनमें आपस के लड़ाई झगड़े बढ़कर अदालतों की आमदनी ही दिन रात साहूकार के कर्ज की तरह बढ़ती बढ़ती हद तक क्यों न पहुँच जाय परंतु गाँवों में अब तक नीच ऊँच का, धनवान् दरिद्र का विचार छोड़कर आपस में एक दूसरे से किसी न किसी रिश्ते नाते ही से बोलते चालते हैं। यदि जाति का चमार हो तो कुछ हर्ज नहीं। बूढ़ा होना चाहिए। ब्राह्मण, बनिया, ठाकुर और गांव के जमींदार नंबरदार तक उससे बाबा कहेंगे और सब छोटी बड़ी औरतें उसके आगे घूँघट निकाले बिना, अदब के कपड़े पहने बिना कभी न निकलेंगी। यही गाँवों की परिपाटी है। यदि इस बात को कुछ सुधारकर बढ़ाया जाय तो उनमें परस्पर हमदर्दी बढ़कर गांवों की बहुत उन्नति हो सकती है और राजा प्रजा दोनों ही का इसमें लाभ है।

मुफ्ती में रहकर बूढ़ा भगवानदास जब सबसे पहले सिर के बल सब ही छोटे मोटे के काम आने में तैयार था, जब वह सब ही के दुःख दर्द का साथी था और जब सब ही के ऊपर उसकी धाक थी तब गाँव की दस बारह औरतों ने यदि सेवा की बहू के साथ इतनी हमदर्दी दिखलाई तो इसमें अचरज क्या है? मनुष्य जितना किसी के कोप से नहीं डरता, जितना विपत्ति से नहीं घबड़ाता और जितना उसकी पुकार न सुनने पर नहीं रोता उतना हमदर्दी का सहारा पाकर उसका

हृदय भर आया करता है। बस सेवा की बहू की यही दशा हुई। पनिहारियों के पूछते ही वह फूट फूटकर रोने लगी। उसकी आँखों से सावन भादों की सी आँसुओं की झड़ी लगकर उसके गालों पर बहकर अँगिया भिगोती हुई कलेजे को ठंढक पहुँचाने लगी। उसकी घिग्घियाँ बँध गईं। अब वह जाड़े के मारे काँपने लगी। अच्छा हुआ कि दो औरतों ने उसे गिरते गिरते सँभाल लिया नहीं तो कुएँ में पड़ जाने में कुछ कसर नहीं रही थी। किसी ने अपने घड़े में से दो चुल्लू पानी लेकर उसकी आँखें छिड़कीं और कोई अपने अंचल से उस पर हवा करने लगी। ऐसा करने से जब थोड़ी देर में उसके होश कुछ ठिकाने आए तब वह इस तरह कहने लगी कि—

"मैं अपना दुखड़ा क्या रोऊँ बीर! कहने से घर की बात बिगड़ती है! जब से वे लोग गए हैं उनकी कोई चिट्ठी नहीं आई। मैं तो इस फिकर के मारे पहले ही मरी जाती हूँ। फिर जब से यहाँ से बाबा गए, कोई किसी की नहीं सुनता। जिसके जी में जो आता है वही करता है। कहाँ तक कहूँ। आठ बजे तो सोते से उठते हैं, मन में आया काम किया और मन में आया न किया। खेत सूख जायँ तो कुछ पर्वाह नहीं। चूल्हे पर रखा हुआ दूध जलकर राख हो जाय तो हो जाय। घर में से जो कोई चीज उठा ले गया तो ले जाने दो। किवाड़ा खुला पड़ा है। दस बारह दिनों में तीन

बीसी रुपयों का नुकसान हो गया और आया छदाम भी नहीं। किसी से कुछ कहा जाता है तो वह खाने को दौड़ता है। जरा सा बहू बेटियों को धमकाया तो उनके आदमी सिर फोड़ने को तैयार होते हैं। बच्चे रसोई में जूती फेंक दें। चौके में उतर ही क्यों न जायँ, पर खबरदार किसी ने उनकी ओर आँख भी निकाली तो। जो कहीं किसी को समझाया तो वह तुरंत अपनी जोरू बच्चों को लेकर जुदा होने को तैयार। गालियाँ (अपने आदमी के लिये इशारा करके कुछ लजाती हुई) खाते खाते दिन भर कान के कीड़े झड़ा करते हैं। सुनते सुनते उकता गई। इस दुःख से तो रामजी मौत दे दें तो छूटूँ। अभी छोटी देवरानी की छोटी ने दही की तमहेड़ी लात मारकर फोड़ डाली। छोटी क्या है एक आफत है। ससुराल-वालों से जनम भर गालियाँ न दिलवावे तो मेरा नाम फेर देना। आफत के मारे उनके मुँह से कुछ निकल गया। निकल भी जाय। आदमी है। घर का नुकसान होता देखकर निकल गया। बाबा उन पर ही घर का सारा बोझा डाल गए हैं, इसलिये उन्होंने एक हलकी चपत मारकर कह दिया। कहा भी क्या था ? कोई गाली थोड़ी ही दी थी। यों ही जरा सा धमकाया था। बस आफत आ गई। देव-रानी को अपने ससुर के बराबर जेठ के सामने होते शर्म न आई। औरत क्या है बोकड़ा है। ऐसी गालियाँ सुनाई हैं कि एक एक मोहर मोहर की। उसका आदमी बाहर से आया

सो बस मारना कूटना ही। पहले तो अपने, बाप के बराबर, भाई के लकड़ी मारी और फिर छोटों को मार मारकर बिछा दिया। बहन, मुझसे देखा नहीं गया इसलिये भाग आई। रामजी ऐसे जीने से तो मौत दे दें। हाय! अब क्या करूँगी?

सेवा की बहू की रामकहानी सुनकर जब सब ही औरतें "हाँ बहन! सच है! हाँ बीर सच है!" कहकर उसकी हाँ में हाँ मिला रही थीं तब घर से भागे हुए तीन चार बालक आए। "ताई चल! मामी चल! अम्मा चल!!" कहकर किसी ने उसका लँहगा पकडा, किसी ने साड़ी और कोई हाथ पकड़कर उसे खैंचने लगा और तब ही "हाय हाय! क्या गजब हो गया? मुझ मुई को क्यों बुलाने आए।" कहती हुई जल का घड़ा सिर पर उठाए वह घर पहुँची। वहाँ जाकर देखती क्या है कि उस ही आफ़त की परकाला लड़की का बाप देवा, सेवा की टाँग पकड़कर खैंचता जाता है और साथ ही गालियों के गोले बरसाता जाता है। बिचारे सेवा का क़ुसूर यही है कि उसने देवा की इकलौती लाड़ली छोरी से कहा सो कहा ही क्यों? लड़की बेशक लाड़ली थी और सो भी इसलिये कि उसकी अटपटी बातों से कुछ चटपटापन पाकर बूढ़े बाबा ने उसका नाम ही मिरची रख दिया था। मिरची थी तो जरा सी पर इधर की उधर झूठी सच्ची भिड़ा देने में बड़ी बहादुर थी। आज उसने अपने मा बाप से कह दिया है कि "ताऊजी जूते मारकर तुम दोनों को निकाल देंगे। यही

उन्होंने मेवा ताऊ से कहा है।" बस इतना सुनते ही आग लग गई। "घर हमारा और हमारे बाप दादा का। मजूरी करते करते तो हम मर रहे हैं। और यह साला हमें निकालनेवाला कौन?" ऐसा कहकर देवा सेवा को, जो उससे उमर में बीस वर्ष बड़ा होगा, निकाल देने के लिये घसीट रहा है। इस दशा को देखकर जब बच्चे चिल्लपों मचाने लगे तब मेवा ने उनके एक एक चपत जमाई। बच्चे चुप होने के बदले अधिक अधिक रोने लगे और उनके रोने में सेवा की बहू ने भी साथ दिया। जिन बच्चों ने मेवा की चपतें खाई थीं उनकी महतारियाँ लड़ने को दौड़ी आईं। औरतों को लड़ती देखकर उनके खसमों ने बे समझे बूझे गालियाँ देना आरंभ किया। बस इस तरह घर में ऐसा कुहराम मचा कि कान पड़ी बात भी सुनना बंद हो गया।

बस बात की बात में गाँव के चौकीदार आ गए। उन्होंने आकर सेवा, मेवा और देवा को गिरफ़ार किया। गिरफ़ार करते ही जो गालियों की गोलियाँ अपने देवर जेठों पर, दिवरानियों जिठानियों पर चलाने के लिये तैयार की गई थीं उनसे चौकीदारों की खबर ली गई। यों तो बूढ़े भगवानदास के दबाव से अथवा संकोच से ही सही, चौकीदार उन्हें समझा बुझाकर छोड़ भी देते परंतु जब उन पर ही गालियाँ पड़ने लगीं तब उन्हें गुस्सा भी आना ही चाहिए। बस उन्होंने तीनों की मुशकें कस लीं। घर के चार पाँच आदमी और

आठ सात औरतों को घेरकर आगे कर लिया और यों वे थाने की ओर रवाना हुए। बस कानों कान यह खबर बस्ती भर में फैल गई। एक भले घर की बहू बेटी का थाने में जाना सुनकर बस्ती में जो भले आदमी थे उनका माथा ठनका किंतु जहाँ गाब है वहाँ ढेडवाड़ा भी होता है। बस्ती में पचास भले थे तो दो चार बुरे भी थे। बस जो बुरे थे वे तालियाँ पीटने लगे। किसी ने कहा—"देवा की बहू के साथ सेवा ने किसी को देख लिया बस इसी की लड़ाई है।" और कोई बोला—"किसी को क्या? मेवा को!" कोई कहने लगा—"वह क्या आज से है? मुद्दत से।" और किसी ने कहा—"वह तो अपने पीहर से ही बिगड़ चुकी है।" बस बात की बात में बात का बतंगड़ बनकर धूल हो गई। जो पनिहारियाँ थोड़ी देर पहले सेवा की बहू के साथ हमदर्दी करने में थीं वे ही अब नाक पर अँगुली रखकर इस घर की बदनामी करने लगीं, पानी पी पीकर कोसने लगीं और गीत जोड़ जोड़कर कवियों में अपने नाम लिखवाने लगीं।

बूढ़ा भगवानदास जानता था कि उसके लड़कों की अकल चरने गई है। उसे संदेह भी था कि ये आपस में कहीं लड़ न पड़ें। इसलिये वह सबको इकट्ठा करके अपने मित्र पन्ना के सिपुर्द कर गया था। इसमें संदेह नहीं कि यदि पन्ना गाँव में होता तो इतना झगड़ा ही न बढ़ने पाता। प्रथम तो वे लोग ही आपस में लड़ मरने के बदले पन्ना के पास पुकारू

जाते और जो न जाते तो कान में जरा सी आहट आते ही वह रस्सा तोड़ दौड़ा हुआ आता। उसका घर भी इनके मकान से दूर नहीं था और जब से भगवनिया गया, वह दिन में चार पाँच बार आ आकर सँभाल जाया करता था। बात यह हुई कि पन्ना किसी आवश्यक काम के लिये कहीं गया था और इस झगड़े से तीन चार घंटे पहले इन सबको समझाकर गया था। जब वह सामने से सीधा भगवानदास के मकान पर आया तो यहाँ इस तरह की लीला देखकर एकदम हक्का बक्का रह गया। विपत्ति के समय जैसे परमेश्वर के दर्शन हों उस तरह पन्ना को देखकर सबके सब रो पड़े। उसने सबको ढाढ़स दिलाकर असली भेद जाना और चौकीदारों को एक ओर ले जाकर न मालुम उनके कान में क्या मंत्र पढ़ दिया कि उन्होंने फौरन ही तीनों की रस्सियाँ खोल दीं। चौकीदारों ने जिन जिन को पकड़ा था, जिन जिनकी शिकायतें थीं उनका राजीनामा जेब में डालते हुए चौकीदार राजी होकर अपने घर गए और भगवानदास के बेटे बहू रो धोकर अपने घर गए। पानी के चार छींटे लगते ही दूध का उफान जैसे बंद हो जाता है, वैसे इनका झगड़ा मिट गया। जैसे सिंह की एक ही गर्जन से स्यार डर के मारे अपनी माँदों में जा छिपते हैं वैसे ही जो इनकी बदनामी करनेवाले थे वे अपने कानों पर हाथ लगा लगाकर अपने अपने घरों में जा लुके।

जब इस तरह की शांति हो गई तब पन्ना भगवानदास

के लड़के बहुओं को सुनाकर उनके घर के भीतर चबूतरे पर बैठा हुआ, हुक्का गुड़गुड़ाते गुड़गुड़ाते उनसे कहने लगा—

"चार ही दिन में तुम लोगों ने अपने पोत दिखला दिए। जिस दिन भगवान भैया आँखें मूँदेगा उस दिन तुम्हें कोई ठीकरे में भीख डालनेवाला भी न मिलेगा। तुममें इतनी भी अकल नहीं है? अपने ही हाथ से अपनी फजीती कर डाली। हमें क्या? हम तो वर्ष दो वर्ष के पाहुने हैं। भोगोगे अपनी करनी को और याद कर करके रोओगे। क्या तुम्हारा बाप सदा ही जीता रहेगा? चार पाँच बच्चों के बाप हुए अब तो कुछ शऊर सीखो। क्यों रे देवा! तेरी ऐसी मजाल जो तू अपने बाप के बराबर बड़े भाई को मारे? और कहाँ गई देवा की बहू! वही सब झगड़े की जड़ है। और बस्ती भर में उसी को लोग थूकते हैं! जिस दिन सुनेगी भली होगी तो जहर खाकर सो रहेगी! और कहाँ है वह मिरची! पकड़ ला रे मेवा! उसे पकड़कर मेरे सामने ला। मैं लगाता हूँ उसे जूते जिससे फिर नारद विद्या भूल जाय।"

"हाँ चाचाजी सच है! हाँ साहब सच है!" कहकर सेवा, मेवा और देवा ने अपनी गर्दनें झुका लीं। देवा की बहू ने जब खबर पाई तो बेशक उसे मरने के समान कष्ट हुआ। पन्ना की फटकार से देवा और देवा की बहू ने सेवा के पैर पकड़-कर क्षमा माँगी और जो जो गालियाँ देने में थे वे सबके सब लज्जित हुए और इस तरह बूढ़े के आने तक बँधी बुहारी रह गई।

प्रकरण—३०

हिंदी और बलिदान

"मुझे मर जाना मंजूर है परंतु जनानी गाड़ी में कदापि न बैठूँगी। एक बार बैठकर खूब फल पा लिया।" कहकर जब प्रियंवदा हठ पकड़ बैठी और जब उसे अलग बिठलाने में पहले का सा भय फिर भी तैयार था तब पंडित प्रियानाथ भगवान, भोला, गोपीवल्लभ और चमेली को तीसरे दर्जे में बिठलाकर आप अपनी प्यारी को लिये हुए ड्योढ़े दर्जे में जा बैठे। यहाँ इस जोड़ी के सिवाय दो स्त्रियाँ और चार पुरुष पहले से बैठे हुए थे। बस इनके पहुँचते ही औरतों की पार्टी अलग हो गई और मर्दों की अलग। सब ही ने "आइए आइए! इधर बैठिए! यहाँ आ जाइए!" कहकर इनको आराम से जगह दी। प्रियंवदा वास्तव में प्रियंवदा, मृदु-भाषिणी थी और वे ललनाएँ भी किसी भले घर की जान पड़ती थीं। बस थोड़ी देर में यह उनसे ऐसी मिल गई जैसे दूध में मिश्री। तीनों में आज खूब घुट घुटकर बातें हो रही हैं। प्रियंवदा को आज डर नहीं है कि "निगूता फिर आ मरेगा।" और वे दोनों ललनाएँ अपने अपने आदमियों का साथ न होने से अभी तक मुरझाई हुई, डरती हुई बैठी

था। प्रियंवदा के आने से उनका भी भय निकल गया, क्योंकि दो से तीन हो गईं और तीसरी भी ऐसी जिसका आदमी साथ है।

इधर पंडित प्रियानाथ के बैठते ही किसी ने सिगरेट का बक्स और दियासलाई की डिबिया दिखाकर "लीजिए साहब" की मनुहार की है, तो कोई अपने पानदान में से पान निकाल-कर इन्हें देने लगा है। कोई सोडावाटर की एक बोतल निकालकर "लीजिए थोड़ा सी और अपने दिल को 'रिफ्रेश' कर लीजिए" कहता हुआ हाथ इनकी ओर बढ़ा रहा है तो किसी ने "आपका दौलतखाना कहाँ है? मालूम होता है कि आप कोई गवर्मेंट सरवेंट हैं! कौन से डिपार्टमेंट में? अगर मेरा खयाल गलत न हो तो पोस्टल में?" इस तरह के सवाल पर सवाल करने आरंभ कर दिए हैं। पंडितजी ने एक का सिगरेट, दूसरे का पान और तीसरे का सोडावाटर धन्यवाद सहित वापिस कर दिया और अपनी जेब में से छालियाँ, इलायची, लौंग, जावित्री की डिबिया निकालकर सब लोगों की नजर की और थोड़ी थोड़ी लेकर तीनों अदब के साथ माथे से लगाने के अनंतर खा गए किंतु जब चौथे के सामने पहुँची तब "थैंक्स! मुआफ कीजिए। मैं ऐसे कस्टम को डिसलाइक करता हूँ। इंडियंस ने बस ऐसे तकल्लुफ ही तकल्लुफ में कंट्री को बरबाद कर डाला" कहकर वह अँग-रेजी नावेल पढ़ने लगा। वे तीनों आदमी उसके ऐसे बर्ताव

से औचक से रहकर उसके मुँह की ओर देखने लगे और इस अर्से में पंडितजी अपनी डिबिया बंदकर जेब में डालते हुए कहने लगे—

"क्यों साहब! यह चाल बुरी क्यों है? हम लोग अकेले अकेले खाकर केवल अपना ही पेट पाल लेना बुरा समझते हैं। जो कुछ पास हुआ उसे यदि बाँटकर खा लिया, साथियों को देकर खाया तो इसमें बुराई क्या हुई? यह तो परस्पर का मेल मिलाप है। ऐसे ही हिल मिलकर बैठना है। ऐसे ही हेल मेल से मित्रता हो जाती है और वह मित्रता समय पर काम दे जाती है।"

"यस, यह मुमकिन है लेकिन फिजूल टाइम को डेस्ट्राय क्यों करना? आप लोग अँगरेजी पढ़कर भी अभी तक टाइम की वेल्यू नहीं जानते।"

"समय का मूल्य तो जितना हम जानते हैं उतना आप भी नहीं जानते होंगे। ऐसे मेल मिलाप में जो समय लगता है वह खोया नहीं जाता, कमाया जाता है। अच्छा हम भारत-वासी गँवार इस प्रकार से समय को नष्ट ही करते हैं तो आप यह रेनल्ड का उपन्यास पढ़कर अपना विचार क्यों नष्ट कर रहे हैं, ऐसी अँगरेजी उर्दू की खिचड़ी बोलकर अपनी मातृ-भाषा क्यों नष्ट करते हैं और कोट पतलून के साथ ऐसा टोप लगाकर देश का रिवाज क्यों नष्ट करते हैं, हमारी जातीयता क्यों नष्ट करते हैं?"

"नहीं, हम नेशनेलिटी कायम करते हैं। हम चाहते हैं कि ये सब पुराने कस्टम दूर होकर होल् इंडिया की एक ही लेंग्वेज हो जाय, एक ही ड्रेस हो जाय और एक ही डाएट!"

"और सो भी अँगरेजों की नकल! क्यों, यही आपका मतलब है ना? परंतु उनकी उदारता में, उनकी उद्योग-शीलता में, उनकी सहानुभूति में और उनके स्वदेशप्रेम में नहीं।"

"बस, बस! हम ज्यादह कन्वरसेशन नहीं चाहते, काइं-डली इस सबजेक्ट को यहीं ड्राप कर दीजिए।"

"अच्छा!" कहकर पंडितजी ने जिन साहब की ओर से मुँह मोड़ लिया वह खासे काले रंग के, काले ही कपड़े पहने, काले साहब थे। आँखों का चश्मा और गले का सफेद कालर यदि बीच बीच में न चमकता होता तो कसम खाने के लिये काले के सिवाय दूसरा रंग ही उनके पास न मिलता। इस तरह पंडितजी को एक साहब का परिचय तो मिल ही गया। शेष तीनों में एक हिंदू, दूसरे मुसलमान और तीसरे पारसी साहब थे। पंडितजी की तरह इन तीनों की भी अँगरेजी में योग्यता ऊँचे दर्जे की थी। एक कहीं का प्रोफेसर था, एक कहीं का वकील था और एक कहीं का व्यापारी। चारों ही अँगरेजी पढ़कर उसके सद्गुणों का अनुकरण करने और अपना धर्म, अपनी रीति-भाँति और अपनी भाषा, भेष तथा भाव न छोड़ने के पक्षपाती थे। बस चार के चारों ही काले साहब को देखकर, आपस में इशारे करते हुए एक दूसरे की

ओर देख देखकर मुसकुराए। किसी ने कहा—"एक रंग ही की कसर है।" कोई बोला—"शायद खड़िया पोतने से बदल जाय।" तीसरा बोल उठा—"सो मश साबू थी पण बदलवानूं न थी।" और तब पंडितजी इन लोगों को रोकते हुए कहने लगे—"जाने दीजिए साहब! इन बातों को। किसी का जी दुखाने से हमारा लाभ ही क्या है?" यों इस विषय की बातचीत बंद हुई तब एक ने पूछा—

"मजहबी ख्याल से खाना तो एक नहीं हो सकता लेकिन जबान और पोशाक बेशक एकसां हो जाने की जरूरत है और सख्त जरूरत है। एक पोशिश हो जाना कौमियत की निशानी है और बगैर जबान एक होने के एक सूबे का आदमी दूसरे पर अपने दिली ख्याल जाहिर नहीं कर सकता और जब तक दिल न मिल जाय, हमदर्दी पैदा नहीं हो सकती।"

"हां! आपका कहना ठीक है। भाषा एक हो जाने की बहुत ही आवश्यकता है, परंतु यदि वस्त्र एक न हों तो मैं कुछ विशेष हानि नहीं समझता। भारतवर्ष एक ऐसा देश है जिसकी उपमा पंसारी की दूकान से दी जा सकती है। इसका जलवायु कई प्रकार का, यहांवालों की रहन सहन बीसों तरह की, इनकी रीति भाँति सैकड़ों ढंग की और यहांवालों का धर्म भी सबका एक नहीं। इसलिये एक प्रकार के वस्त्रों से सुविधा भी नहीं हो सकती और इसकी विशेष आवश्यकता भी नहीं है। क्योंकि युरोप और अमेरिका के एक प्रकार के

वश होने ही से उनमें मेल हो गया हो सो नहीं। अब भी वे लोग आपस में कटे मरते हैं।"

"खैर! मगर तब जबान एक कैसी? अँगरेजी तो हो नहीं सकती। बहुत जोर मारा जाय तो इसे यहाँ की मुल्की जबान बनाने के वास्ते कई सदियाँ चाहिएँ। बेशक उर्दू एक ऐसी जबान है जो कारआमद हो सकती है, क्योंकि अब तक भी यह मुल्क के एक गोशे से दूसरे गोशे तक बोली और समझी जाती है। मगर साहब, आप तो शंशकीरत के ऐसे ऐसे मुशकिल लफ्जों को ठूँस रहे हैं कि अच्छी तरह मैं समझने में भी मजबूर हूँ! आपकी जबान आम-फहम नहीं हो सकती और इस तरह की जबान कायम करके गोया आप लोग हमारे और अपने दर्मियान एक खाई खोद रहे हैं।"

"कभी नहीं साहब! कदापि नहीं! बेशक यह सवाल बड़ा टेढ़ा है। यदि हम संस्कृत के शब्दों की सहायता लेते हैं तो आप लोगों को उन्हें बोलने और सीखने में कष्ट होता है, और फारसी शब्दों को काम में लाते हैं तो हमारी भाषा बंगाली, गुजराती, मरहटे, मदरासी लोगों के लिये फ्रेंच या जर्मन हो जाती है। दुनिया की सब ही अथवा भारतवर्ष की सब भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और संस्कृत ही उन्हें जोड़ देनेवाली है। उन प्रांतों के आदमियों को हमारी तरह संस्कृत के शब्द अधिक काम में लाने से भाषा का समझना सीधा पड़ता है। मैंने केवल संस्कृत की सहायता से जैसे

बँगला, गुजराती और मराठी बिना प्रयास के सीख ली है उसी तरह वे यदि पढ़ने का परिश्रम न करें तब भी यों ही गाते गाते कलावंत बन सकते हैं। क्योंकि उर्दू को छोड़कर भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में कम से कम चालीस प्रति सैकड़ा वे ही शब्द मिलते हैं जो सबमें एक तरह से अथवा थोड़ा बहुत रूप बदलकर बोले जाते हैं। इस तरह हिंदी के प्रचार से यदि दस बीस वर्ष में भारत की एक भाषा हो सकती है तो उर्दू को कम से कम सौ वर्ष चाहिएँ क्योंकि वह बिना पढ़े आ नहीं सकती और उसकी लिपि से तो भग-वान् बचावे।"

"मगर खत के बाबत तो मेरा सवाल ही नहीं है। जबान का मसला किसी आसान तरीके से हल होना चाहिए। अच्छा आप ही बतलाइए कैसे हम आप, कुल हिंदोस्तान मुत्तफिक हो सकते हैं?"

"दोनों के झुकने से। दोनों ही के हठ छोड़ने से। आप फारसी के कठिन कठिन शब्दों का लाना छोड़ दें और हम लोग भी सरल करने का प्रयत्न करें।"

"बेशक सही है! वाकई सच है!" कहकर वकील साहब ने अपनी बहस पूरी की। और दोनों साहब जो वहाँ बैठे हुए थे "हाँ हाँ!" करने लगे और रेनाल्ड का नावेल पटड़ा पर डालते हुए काले साहब ने भी 'यस आलराइट" कहकर इन लोगों की बात का अनुमोदन किया। ऐसे इनके एक वाद-

विवाद की समाप्ति होकर ज्योंही दूसरे के छिड़ने का अवसर आया ट्रेन धीरी पड़ते पड़ते रुककर "विंध्याचल ! विंध्याचल !!" की आवाज ने सब मुसाफिरों के कान खड़े कर दिए। तीसरे दर्जे की गाड़ी में से बूढ़ा, बुढ़िया और भोला अपना अपना असबाब लेकर उतर पड़े और पंडितायिन ने भी खड़ी होकर पति राम से उतरने का संकेत किया किंतु इन्होंने बूढ़े को समझाकर सब लोगों को जब सवार करा दिया तब उस हिंदू मुसाफिर ने इनसे पूछा—

"क्यों पंडितजी ! उतरते उतरते कैसे रह गए ? मनसूबा क्यों बदल दिया ?"

"हाँ ! विचार अवश्य बदल दिया ! मुझे एक बात का ध्यान आ गया (कुछ ध्यान करके हाथ जोड़ते और आँखें मूँदते हुए) भगवती विंध्यवासिनी, माता जगज्जननी ! दास का अपराध क्षमा करियो ! माई रक्षा करो ! मैं वैष्णव हूँ ! बलिदान की प्रथा चाहे तंत्र शास्त्रों की अनुमोदित हो किंतु मेरा कोमल हृदय तुम्हारी लीला देखकर स्थिर नहीं रह सकता। तुम साक्षात् माया हो। इस संसार की स्थिति ही तुमसे है। तुम्हारी लीला को तुमही जानो। मैं दुर्बल ब्राह्मण बलिदान के समय बकरों का करुण क्रंदन, उनके पैरों की छटपटाहट, उनके रक्त का प्रवाह और उनका अंत समय का कष्ट देखकर मन को दृढ़ रखने में असमर्थ हूँ। एक बार एक जगह भगवती की ऐसी लीला का विकट दृश्य देख चुका हूँ।

इसलिये हे माई! क्षमा माँगता हूँ। मेरी इस धृष्टता का, मेरी इस दुर्बलता का, मेरी इस मूर्खता का अपराध क्षमा करो। माता, मैं तुम्हारा अपराधी हूँ। तुम्हारे चरणारविंदों के निकट आकर भी दर्शन से वंचित रहता हूँ।" बस ऐसे स्तुति करते करते, भगवती दुर्गा का स्तवन करते करते पंडितजी की आखों में से आँसू बहने लगे, और उनका इसी तरह ध्यान तब तक लगा रहा जब तक "मोगलसराय!" की तीन आवाजों ने इनको न जगाया।

और और मुसाफिर उसी गाड़ी में बैठ आगे निकल गए, इस यात्रापार्टी ने अवध रोहेलखंड की गाड़ी में सवार होकर कूच किया और जिस समय यह काशी स्टेशन पर पहुँचे गौड़-वाले इन्हें लेने के लिये पहले ही से स्टेशन पर मौजूद पाए गए। उनके कहने से अच्छा मकान मिलने की खबर पाकर इन्हें संतोष हुआ।

प्रकरण—२१

काशी की छटा

प्रयाग के त्रिवेणी संगम पर प्रकृति देवी ने जो अलौकिक छटा दिखलाई है उसमें और काशी के दृश्य में धरती आकाश का सा अंतर है। वहाँ नैसर्गिक छटा अधिक और यहाँ प्राकृतिक और संसारी दोनों समान हैं। वहाँ गंगा और यमुना का जैसा संगम है, मिल जाने पर भी दोनों जैसे भिन्न भिन्न दर्शन दे रही हैं वैसे यहाँ इहलौकिक और पारलौकिक इन दोनों महानदों का संगम है। दोनों ही वास्तव में एक दूसरे से स्वतंत्र हैं किंतु दोनों ही से दोनों की शोभा है। एक अलौकिक सुंदरी ललना की शोभा जैसे वस्त्राभूषणों से बढ़ती है वैसे ही स्वाभाविक सुंदरी गंगा की शोभा तटों के सुंदर सुंदर घाटों से, विशाल विशाल भवनों से है। गंगा हिमालय गिरि-शिखर से लेकर समुद्र-संगम तक है। समुद्र में प्रवेश कर जाने के अनंतर भी भगवती के कोसों तक दर्शन होते हैं। गंगातट के प्रत्येक तीर्थ में, एक से दूसरे में किसी न किसी प्रकार का अलग ही चमत्कार है किंतु वह शोभा काशी के समान नहीं। काशी से बढ़कर हो तो हो परंतु काशी के समान नहीं। ऐसे अवश्य ही यहाँ के घाटों ने, विशाल विशाल भवनों ने, काशी-तल-वाहिनी गंगा की शोभा बढ़ाई है।

हाँ शोभा बढ़ाई सही परंतु यदि गंगा ही न हो तो ये घाट, ये भवन किस काम के ? बिलकुल रद्दी ! भूतावास ! जिनके देखने से भी डर लगे। परंतु अहा ! देखो ! डफरिन पुल से असी संगम तक भगवती ने इन किनारे के भवनों की साड़ी ओढ़कर कैसा अद्भुत स्वरूप धारण किया है ? ओढ़ना नहीं ! यदि साड़ी ओढ़ ली जाय तो फिर दर्शन ही क्यों होने लगे ? ओढ़ी नहीं। वह साड़ी गंगा तट पर, तट तट पर फैली हुई मानों भगवती से प्रार्थना करती है कि कभी मुझे भी एक गोता लगाकर अपना जीवन सार्थक करने का सौभाग्य प्राप्त हो। एक शयन करनेवाली निद्राभग्न नखशिख सुंदरी रमणी के शरीर पर हवा के झोंके से उड़ उड़कर कहीं कहीं जैसे साड़ी गिर जाती है उसी तरह गंगा तीर के भग्नावशेष गिर पड़ने पर भी कृत्यकृत्य हैं।

वरुणा और अस्सी संगम के बीच में धनुषाकार गंगा, भगवान् भूतभावन का पिनाक धनुष, तट के तीर्थों की प्रत्यंचा, "हर हर महादेव !" के अमोघ बाण और विश्वनाथ, विश्व के संहार करनेवाले भगवान् भोलानाथ जैसा तीरंदाज जहाँ प्रत्यक्ष विद्यमान हैं वहाँ दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों ही तापों का गुजारा कहाँ ! सिंह के एक ही गर्जन से जैसे मेषों का यूथ भागता है वैसे पापों के झुंड के झुंड काशी के यात्रियों के शरीर को छोड़ छोड़कर हिरन के शावकों की नाईं भागे जा रहे हैं।

और तो जो कुछ है सो है ही किंतु यहाँ की गंगा में दो बातें बहुत ही असाधारण, अलौकिक और अद्भुत दिखाई दीं। वास्तव में बड़ा चमत्कार है। जो वास्तविक भक्त हैं उनका हृदय मुक्त कंठ से स्वीकार करता है कि यह केवल भगवती पतितपावनी गंगा की शक्ति है, जिनका मन कुछ कुछ डावाँ-डोल है उनका हृदय इस चमत्कार पर दृष्टि पड़ते ही विमल होता है और जो निरे नास्तिक हैं वे हजार सिर मारने पर भी, साइंस की किताबों से माथा फोड़ने पर भी नहीं पा सकते, इसका कारण नहीं पा सकते। अस्तु! यदि उन्हें कुछ कारण नहीं मालूम पड़े तो रहने दीजिए। कवि जनों के हृदय के लोचन निराकार परमेश्वर के चरणारविंदों तक पहुँच जाते हैं तब वे इसका कारण न बतलावें तो सचमुच इनकी जननी लाज जाय।

जिस गंगा को सिंहव्यालादिवाहिनी कहा जाता है, जिसके प्रबल प्रवाह के आगे बड़े बड़े पैराक भी घबड़ा उठते हैं वह काशी के तले ऐसी निस्तब्ध, निश्चेष्ट क्यों है? भगवती में डाली हुई वस्तु जहाँ की तहाँ ही क्यों पड़ी रहती है? बहकर क्यों नहीं चली जाती? हम आस्तिक हिंदुओं की दृष्टि में परमेश्वर की लीला का, उस अलौकिक नट के विचित्र नाट्य का कारण बतलाना भी दोष है, किंतु हमारी समझ में हिमालय का शिखर त्यागकर महात्मा भगीरथ के रथ के पीछे पीछे चलती चलती थककर या तो यहाँ भगवती ने विश्राम लिया है अथवा इस पुण्यक्षेत्र को देखकर महारानी यहाँ की

विशेष विशेष शोभा देखने के लिये खड़ी हो गईं अथवा भगवान शंकर की अर्द्धांगिनी हैं, यहाँ खड़ी खड़ी उनके चरणों का ध्यान करती हैं, उनसे प्रार्थना करती हैं, उनसे कहती हैं कि "हृदयेश, दासी को इन पुण्य चरणों का वियोग न दो। मेरी इच्छा नहीं होती कि मैं आपको छोड़कर एक पग भी आगे बढ़ूँ।"

अस्तु ! यह बात नहीं है कि यहाँ मगर न हों, घड़ियाल न हों और गंगा में ऐसे जंतुओं का अभाव हो जो आदमी को खैंचकर ले जाते हैं, उसकी जान ले डालते हैं परंतु अभी तक, यहाँ के बूढ़े बूढ़ों से पूछिए किसी ने कभी ऐसी घटना सुनी है ? नहीं कदापि नहीं। भगवान दशरथनंदन के रामराज्य में जैसे प्यारी पत्नियों को प्रेम से पीड़ित करनेवाले उनके पतियों के सिवाय कोई किसी को नहीं सता सकता था, सिंह और बकरी एक घाट पानी पीते थे, जैसे हाथी और घोड़ों के बंधन के सिवाय बेड़ियों का बंधन नहीं था वैसे ही यहां के मगर मच्छ किसी के प्यारे प्राणों को पीड़ा पहुँचाना भूल गए हैं। केवल धर्मबंधन के अतिरिक्त इस ब्रह्मद्रव में यावत् सांसारिक बंधनों का अभाव है, स्नान-मात्र से सब बंधन छूट जाते हैं।

यह तो है सो है ही किंतु एक बात का यहाँ अपूर्व आनंद है, वैसा आनंद कहीं दुनिया भर में न होगा। जरा देखिए तो सही ! गंगा तट की ओर निहारकर अपने कमल नयनों को जरा सुफल तो कर लीजिए। अहा ! कैसी विचित्र छटा

है ! कैसा अद्भुत चमत्कार ! घाटों पर खड़े हुए नर नारी स्नान कर रहे हैं, पनिहारियाँ ताम्र कलशों में भर भरकर गंगा-जल ले जा रही हैं, ब्राह्मण, संन्यासी और सब ही द्विजन्मा शांत चित्त से घाटों पर लगे हुए लंबे लंबे तख्तों पर आसन जमाए, जपस्थलों में हाथ डाले जप कर रहे हैं। कोई तिलक लगाता है, कोई गंगालहरी के पाठ से भगवती को रिझा रिझाकर गा रहा है, कोई पत्र पुष्प से महारानी का पूजन कर रहा है और कोई "हर हर महादेव" के गगनभेदी नाद से श्रोताओं का, अपना हृदय आनंदित कर रहा है। जो स्नान करनेवाले अथवा करनेवालियाँ हैं वे भीतर और बाहर के मलों को धो रहे हैं। जो बरतन मलनेवाली हैं वे बरतनों के साथ ही अपने मन का मल मलकर साफ कर रही हैं और जो यहाँ से ताम्रकलशों को भरकर अपने घरों को ले जा रही हैं वे मानों कह रही हैं कि हमारा कोई कार्य गंगाजल के बिना नहीं सरता। हम गंगाजी की और गंगाजी हमारी।

धन्य ! करोड़ बार धन्य !! जैसा संध्या-स्नान का आनंद, जैसी शांति यहाँ है वैसी प्रयाग में भी नहीं। वहाँ प्रथम तो शांतिपूर्वक प्रभु की आराधना करने के लिये घाट ही नहीं, फिर पंडों, भिखारी और उठाईगीरों के मारे कल नहीं। गुंडों की कमी काशी में भी नहीं है। भगवान् उनसे बचावे। वहाँ "लाओ ! लाओ" से नाक में दम कर देनेवाले हैं तब यहाँ जान तक ले डालनेवाले हैं। यहाँ मगर और घड़ियाल

चाहे बालक बालिका की टाँग खैंचकर न ले जायँ किंतु यहाँ के गुंडे युवतियों को केवल जेवर के लालच से घसीटकर ले जाते हैं। इनकी लाशों को गंगाजी में पड़नेवाले पनालों में जा ठूँसते हैं। किंतु जरा किनारे की ओर तो दृष्टि डालकर देखो। साक्षात् शांति किस तरह विराज रही है। यदि भगवान काशी के प्रपंच से बचावे तो जैसा आनंद, जैसी चित्त की एकाग्रता और जैसा सुख स्नान-संध्या करने से यहाँ है वैसा और कहीं न होगा। विरली जगह होगा।

ऊपर जो कुछ वर्णन किया गया है हमारी यात्रापार्टी के भक्ति-संभाषण का सारांश है। और यह उस समय की बात-चीत का खाका है जब वे लोग काशी के स्टेशन से नाव में विराजकर अपने टिकने के स्थान की ओर आ रहे थे। उस नौका में इन खास आदमियों के सिवाय एक अपरिचित मनुष्य और भी आ बैठा था। वह कौन था और कहाँ का रहने-वाला था सो बिना प्रयोजन बतलाने की आवश्यकता नहीं। जब तक पंडितजी का गौड़बोले से इस तरह संवाद हुआ, जब तक प्रियंवदा और बूढ़ा बुढ़िया ध्यानपूर्वक सुनते रहे, वह चुप-चाप बैठा हुआ इनकी ओर निहारता रहा। अपने अपने ध्यान में मग्न होकर किसी ने उसे अच्छी तरह से देखा भी नहीं। एक प्रियंवदा ने कनखियों से उसे देखा और देखते ही एक हलकी सी चीख मारकर वह अचेत हो गई। थोड़ा सा उपचार करने से थोड़ी देर में उसे जब होश आई तब वह

अवश्य ही पति के निकट खसककर आ बैठी। परंतु बातों में मग्न होकर पंडित जी कदाचित् इस समय अपने आपको भूल गए थे, इसलिये न तो उनका ही प्रियंवदा के भय का कारण जानने की ओर मन गया और न वही कह सकी कि "मेरे डर का कारण यही आदमी है जो मेरी ओर भूखे बाघ की तरह घूर रहा है।"

अस्तु! वह मनुष्य, जो इस समय लंबी लंबी जटा को अपने सिर पर लपेटे, बड़ी बड़ी दाढ़ी और मूछों से अपने मन का भाव छिपाए गेरुआ रंग के कपड़े से छिपा हुआ बैठा था, बोला—

"बाबा! दो बातें कहना भूल गए। मालूम होता है कि आज से पहले काशी में कभी नहीं आए। आए होते तो अवश्य कहते!"

"अच्छा! हम भूल गए तो आप ही याद दिला दीजिए। इतना उपकार आपकी ओर से ही सही!"

"बाबा! वहां की शोभा उस समय और भी दर्शनीय हो जाती है जब बुढ़वा मंगल के मेले पर गंगाजी नावों से ढँक जाती हैं!"

"हाँ! उस समय जब काशी के कुपूत माता की छाती पर चढ़कर वेश्याओं का नाच कराने में कुकर्म करते हैं। नहीं चाहिए महाराज! हमें ऐसी शोभा नहीं चाहिए।"

"अच्छा नहीं चाहिए तो (क्रुद्ध होकर) किनारे के पनालों की बदबू चाहिए, जिसमें लाखों आदमियों का पाय-खाना पेशाब गिरता है, जिस पानी को पीने से आदमी बीमार होकर मर जाता है और जो बदबू के मारे अभी हमारा दिमाग फाड़ डाल रहा है, उसकी इतनी प्रशंसा? चौथे आस्मान पर चढ़ा दिया।"

"महिमा घटी समुद्र की रावण बस्यो पड़ोस। (अपने क्रोध को रोककर) तुम्हारे जैसे कुकर्मियों के कुसंग से। तुम्हारे जैसे पापियों ने (मन ही मन—गुस्सा तो ऐसा आता है कि अभी लात मारकर इसकी ऐंठ निकाल डालूँ! साला माता की निंदा करता है) ही इस काशी क्षेत्र को बदनाम किया है? तुम जैसे दुष्टों से दुःख पाकर ही भले आदमियों ने "राँड़ साँड़ सीढ़ी संन्यासी, इनसे बचे तो सेवे काशी" की चितौनी दी है। तुम जैसे पामरों के कारण ही "प्रेम-योगिनी" में भारतेंदु हरिश्चंद्र को काशी के लिये इस तरह लिखना पड़ा है—

"आधी काशी भाँड़ भँडरिया बाभन औ संन्यासी।
आधी काशी रंडी मुंडी राँड खानगी खासी॥
लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बे विश्वासी।
महा आलसी झूठे शुहदे बेफिकरे बदमासी॥
मैली गली भरी कतवारन सँडो चमारिन पासी।
नीचे नल तैं बदबू उबलै मनो नरक चौरासी॥

फिरैं उचक्का दै दै धक्का लूटैं माल मवासी।
कैद भए की लाज तनिक नहिं बेशर्मी नंगा सी॥
साहब के घर दौरे जावैं चंदा देइ निकासी।
चहैं बुलावा नाम मंदिर का सुनतै होइ उदासी॥
घर की जोरू लड़के भूखे बने दास औ दासी।
दाल कि मंडी रंडी पूजैं मानों इनकी मासी॥
आप माल कचरैं छानैं उठि भोरै कागावासी।
करि व्यवहार साख बाँधैं मनु पूरी दौलत दासी॥
बाप कि तिथि दिन बाँभन आगे धरैं सरा औ बासी।
चाखि रुपैया काढि दिवाला माल डकारैं ठाँसी॥
काम कथा अमृत सी पीवैं समझैं ताहि बिलासी।
राम नाम मुँह तैं नहिं निकसै सुनतै आवैं खाँसी॥"

"जरा सँभालकर बोल! दुष्ट! हमारे जैसे महात्मा साधुओं को क्रोध आ जाय तो एक ही फटकार में भस्म हो जाय।"

भस्म भस्म का नाम सुनते ही प्रियंवदा काँप उठी। उसका सारा शरीर पसीने से सराबोर हो गया। घबड़ाहट में आकर वह लोक-लाज भूल गई। उसे उस समय यह भी सुधि न रही कि मैं इतने आदमियों के समक्ष पति से कैसे बात करती हूँ। यदि सुधि होती तो शायद आँखों ही आँखों से पति को मना करने की चेष्टा करती, किंतु भयभीत होकर उसके मुख से निकला—

"नाथ, हाथ जोड़ती हूँ ! अजी पैरों पड़ती हूँ ! ऐसे लोगों से न उलझो ! कहीं कुछ शाप दे डालै तो मैं घर की रहूँ न घाट की !"

"अरे रह रे रह ! चुप रह !!" कहकर पंडितजी ने उस साधु की गर्दन पकड़ते हुए दो घूँसे पीठ पर मारकर "जो पर-नारियों की ओर कुदृष्टि से देखे और गंगा माई की छाती पर शेखे वह महात्मा ! उसकी फटकार से एक ब्राह्मण भस्म हो जायगा ! छुई मुई है ?" कहते हुए फिर अपनी जगह पर बैठ-कर कहा—

"अच्छा महात्मा जी, मैं आपको सुनाऊँ गंगाजी के माहा-त्म्य ! शास्त्र के प्रमाण सुनने के तुम अधिकारी नहीं हो। भक्ति का तत्व समझने की तुममें बुद्धि नहीं। बुद्धि होती तो आज इस (अपनी गृहिणी की ओर अँगुली दिखाकर) बिचारी को बुरी नजर से न देखते, इसकी ओर बुरे बुरे इशारे न करते। अच्छा सुनो यह उसी पतितपावनी गंगा का तरण-तारण ब्रह्मस्वरूप जल है जिसकी प्रशंसा में पश्चिमी वैज्ञानिक भी मुग्ध होते हैं। बड़े बड़े डाक्टरों ने निश्चय कर लिया है कि इसके समान संसार की किसी भी नदी का जल नहीं। ऐसा हलका नहीं, ऐसा सुपच नहीं और इतने वर्षों तक निर्वि-कार ठहरने की किसी जल में शक्ति नहीं। और नदियों के, कुओं के बढ़िया से बढ़िया जल को रख छोड़िए। दो चार दस दिन में कीड़े कुलबुलाने लगेंगे। जल सूखकर उड़

जायगा। किंतु भगवती के ब्रह्मद्रव में कभी कीड़े पड़ने का नाम नहीं। सूखने के बदले, आज का दस बीस वर्ष के बाद उमगेगा। भक्ति मात्र चाहिए। आप जैसे कुकर्मियों के पड़ोस बसकर इस विमलसलिला गंगा पर पनालों की बदबू का कलंक अवश्य लगा है, किंतु पनालों के निकट का ही गंगा जल लेकर थोड़े दिन रख छोड़िए। पहले उसमें कीड़े पड़ेंगे। राम राम! उसमें नहीं! पनाले के जल का जो हिस्सा उसमें मिल गया है उसमें। किंतु उन कीड़ों का केवल छः दिन में नाश होकर फिर वही विमल जल। यदि इस पर भी आप लोग न समझें तो आपका नसीब! आप माता को हजार गालियाँ दें परंतु माता तो माता ही है! संसार में माता के समान कोई नहीं। लात मारनेवाले बालक को भी माता दूध पिलाती है। पत्थर मारनेवाले पापी को भी आम्र फल देता है। हाँ, इतना भेद अवश्य है कि माता के स्तनों को मुख में लेकर बालक दूध पीता है और जोंक दूध की जगह उसका रक्त पीती है। बस अधिकारी का भेद है। क्षमा करना महाराज, "हरि हर निंदा सुनै जो काना, होहि पाप गो घात समाना।" बस इसी विचार से मैंने माता की निंदा करने का मजा बताया है। नहीं तो मैं आपका दास हूँ। हम गृहस्थ अब तक भी काषाय वस्त्रधारी को महात्मा समझते हैं। फिर इन वस्त्रों को लज्जित न कीजिए। अपने कुकर्मों से और साधुओं को गालियाँ न दिलवाइए। उनके सत्कार का खून

न कराइए ! अब भी आप लोगों में अच्छे अच्छे महात्मा हैं परंतु वे आपकी तरह कहते नहीं फिरते कि "हम भस्म कर देंगे।" उनके लिये "पर तिय मात समान हैं।"

घाट आते ही साधुजी लपककर नाव से उतरते उतरते "अच्छा बच्चा समझ लेंगे।" कहते हुए नौ दो ग्यारह हुए और हमारी यात्रापार्टी कुलियों के सिर पर बोझा रखवाकर अपने टिकने के स्थान पर पहुँची किंतु बाबाजी के "शाप" और "समझ लेंगे" के भय से प्रियंवदा पर जैसी इस समय बीत रही है उसका मन ही जानता है।

प्रकरण—३२

देवदर्शन का आनंद

यों ये लोग काशी में कहीं न कहीं ठहरकर अटरम सटरम अपना काम निकाल ही सकते थे क्योंकि जो यात्रा की घुड़दौड़ करते हैं उन्हें यदि अच्छा मकान न मिले तो न सही, किंतु पंडितजी को दौड़ करना पसंद नहीं था, वह चाहते थे कि "जहाँ जाना वहाँ मन भरकर रहना, जो कुछ करना वह शास्त्रीय रीति से करना और किसी काम में उतावला बनके उसको मिट्टी में न मिला देना।" वह प्रायः कहा करते थे कि "जल्दी का काम शैतान का होता है।" बस इसलिये उन्होंने जब गौड़बोले को पहले से काशी भेजा तब खूब ताकीद कर दी थी कि "किराया कुछ अधिक भी लग जाय तो कुछ चिंता नहीं किंतु मकान ऐसा मिलना चाहिए जिसमें भगवती भागीरथी के दर्शन हरदम होते रहें। जहाँ निवास करने में न तो गंगास्नान के लिये दूर जाना पड़े और न वहाँ से विश्वनाथ का मंदिर ही अधिक दूर हो।"। गौड़बोले ने जब ऐसा ही मकान तलाश कर लिया तब उस पर धन्यवादों की भी खूब ही वर्षा हुई।

जब से ये लोग यहाँ आए हैं नित्य ही मकान पर शरीर-कृत्य से निवृत्त होकर गंगास्नान करते हैं। वहाँ ही संध्या-

वंदनादि नित्यकर्म होता है। जो इन बातों के अधिकारी नहीं हैं उनका भजन होता है, द्वादशाक्षरी अथवा अष्टाक्षरी मंत्र का जप होता है। सब ही मिलकर एक लय से एक राग में भगवती की स्तुति करते हैं और पद्माकर की "गंगा-लहरी" के चुने हुए पद गा गाकर मग्न हो जाते हैं। नित्य ही जाह्नवी का पूजन होता है और इस तरह गंगा की आराधना में इनके घंटों गुजर जाते हैं। महारानी की कृपा से इन्हें घाट भी अच्छा मिल गया है। घाट वही जहाँ से आचार्य महाप्रभु भगवान् वल्लभाचार्यजी ने संन्यास ग्रहण करने के अनंतर गोलोक को प्रयाण किया था। इस घाट के दर्शन करने से पंडितजी की विचार-शक्ति इनके चर्म-चक्षुओं के समक्ष वही दृश्य ला खड़ा करती है। इन आँखों को न हो तो न सही किन्तु हृदय के नेत्रों को दिखाई देता है कि महाप्रभु के इस लौकिक शरीर की अलौकिक ज्योति देखते देखते ऊपर को उठकर सूर्य किरणों का भेदन करती हुई भगवान् भुवनभास्कर में जा मिलती है। इस दृश्य को देखकर यह सचमुच विह्वल हो जाते हैं, गद्गद हो उठते हैं और उस समय इन्हें जो कोई देखे तो कह सकता है कि यह विक्षिप्त हैं। इनकी नित्यकर्म में ऐसी एकाग्रता, इनका उच्च भाव और इनकी कांति देखकर किसी को उस समय इन्हें सताने का साहस नहीं होता, और इसलिये इन्हें बहुत ही आनंद से अपने संध्योपासनादि कर्म करने का अच्छा अवसर मिल जाता है।

गंगाजी की सीढ़ियाँ चढ़ने उतरने में चाहे इनके और साथी थकें चाहे न थकें किंतु हनुमान घाट की सीढ़िया चढ़ना प्रियंवदा के लिये वास्तव में बदरीनारायण की चढ़ाई है। वह चाहे अपने मन की दृढ़ता प्रकाशित करने के लिये अपने मन का भाव छिपाने का प्रयत्न करे किंतु उसके मुख कमल की मुरझाहट, उस पर प्रस्वेद-बिंदु और उसके नेत्रों की सजलता दौड़ दौड़कर चुगली खा रही है कि वह थक गई है, घबड़ा उठी है। अपनी थकावट मेटने के लिये उसे दस दस बीस बीस सीढ़ियाँ चढ़कर बीच बीच में साँस लेना पड़ता है। समय समय पर उसे साहस दिलाने के लिये प्राणनाथ मृदु मुसक्यान में प्रबोध भी देते हैं, किंतु कभी वाणी से और कभी नेत्रों से और कभी कभी दोनों से उत्तर यही मिलता है कि स्वामी-चरणों के प्रताप से, भगवती के प्रसाद से अवश्य पार हो जाऊँगी, और जो कहीं न हुई तो, "गंगाजी को पैरबो अरु विप्रन को व्यवहार, डूब गए तो पार हैं और पार गए तो पार।" हाँपते हाँपते थके मुँह से, कभी पैर फिसलते समय और कभी लड़खड़ाते लड़खड़ाते प्यारी की ओर से ऐसा उत्तर पाकर प्रियानाथ की कली कली खिल उठती है क्योंकि अपनी मनचाही गृहिणी पाकर वह अपने भाग्य को सराहते हैं।

मथुरा और प्रयाग के अनुभव ने पंडितजी की सचमुच आँखें खोल दीं। यदि इष्टदेव इन्हें ऐसी सुबुद्धि न देता तो काशी में आकर अवश्य ही इन्हें लेने के देने पड़ जाते।

प्रयाग में चाहे भिखारियों ने, गँठकटों ने और लफंगों ने इनकी नाक में दम ही क्यों न कर डाली थी किंतु काशी की दशा उससे दो कदम आगे थी। वहाँ इन लोगों से कितना भी कष्ट क्यों न रहा हो परंतु त्रिवेणी-तट का विशाल मैदान साँस लेने के लिये कम नहीं था और यहाँ की सँकरी सँकरी गलियाँ जिनमें सूर्य नारायण का दर्शन भी दुर्लभ था। वहाँ के भिखारी मुड़चिरे तो यहाँ के गुंडे। इनके मारे जब बड़े बड़े "तीसमारखाँ" की अकल हैरान है तब पंडितजी बिचारे किस गिनती में हैं और तिस पर भी तुर्रा यह कि एक रूपवती अबला इनके साथ है। भारतवर्ष की महिलाओं के लिये यह सच कहा जाता है कि "आटे का दिया हैं घर में रहती हैं तो चूहे नोचते हैं और बाहर जाती हैं तो कौवे टाँचते हैं।" बस ऐसी दशा में जब काशी से कुशलपूर्वक बिदा हों तब ही समझना चाहिए कि यात्रा सफल हुई, क्योंकि जब से उस साधु ने शाप का भय दिखाकर "समझ लेंगे" की घुड़की दी है तब से प्रियंवदा थर थर काँपती है। बस ऐसे ही कारणों से इन्होंने सबकी सलाह से पक्का मनसूबा कर लिया है कि "मंदिरों और तीर्थों में जब जाना तब जहाँ तक बन सके अधिक भीड़ के समय को टालकर जाना, भिखारियों को देकर कपड़े खिंचवाने के बदले जो कुछ (यथाशक्ति) देना वह गुप्त रूप से पात्र ब्राह्मण को, योग्य संन्यासियों को और अंधे अपाहिजों को तलाश करके देना। और न देने पर

जो गालियाँ दें उन्हें बकने देना। इस प्रकार के ठहराव के सिवाय दो तीन बातों की इन्होंने और भी ताकीद कर दी है "कभी पास जोखिम लेकर न फिरना, रात बिरात अकेले न फिरना और मकान, गली तथा मुहल्ले को अच्छी तरह याद रखना। अनजान आदमी का कभी भरोसा न करना क्योंकि यहाँ के गुंडे धन के लोभ से रात बिरात अँधेरे उजेले छुरा चलाने तक में नहीं हिचकते।"

यों हिंदुओं के घर घर में, प्रत्येक घर में, देवस्थान हैं। जिस घर में देव-प्रतिमा नहीं, जिसमें तुलसी नहीं, जिसमें गाय नहीं वह हिंदू का घर नहीं। इस कारण छोटे छोटे गाँवों से लेकर बड़े बड़े नगर तक काशी हैं, वृंदावन हैं किंतु काशी और वृंदावन में देव-मंदिरों का बाहुल्य है, यहाँ घर थोड़े हैं और मंदिर अधिक। यदि तलाश किया जाय तो इन नगरियों में कदाचित् लाखों में एकाध मिले तो ऐसा मिल सकता है जिसने वहाँ के सब मंदिरों में, समस्त तीर्थों में जा सौभाग्य प्राप्त किया हो। इस कारण इन्होंने "काशी माहात्म्य" अवलोकन कर वहाँ के मुख्य मुख्य देव-स्थानों को, मुख्य मुख्य तीर्थों को, चुनकर अपनी यात्रा का प्रोग्राम तैयार किया।

इस प्रोग्राम में जो स्थान काशी की पंचकोशी यात्रा में आए उनके लिखने से तो कुछ प्रयोजन ही नहीं और उनमें जो विशेष विशेष थे वे भी समय समय पर आही जायँगे।

किंतु इनके मुख्य इष्ट थे विश्वनाथ। बस भगवान् भूतभावन के दर्शन करने के लिये ये लोग दुपहरी में गए। प्रारब्ध वश इन्होंने जो मार्ग ग्रहण किया वह 'ज्ञानवापी' की ओर होकर था, इस कारण सबसे पहले इनकी दृष्टि औरंगजेबी मसजिद पर पड़ी। इतिहास में मंदिर और सो भी विश्वनाथ का मंदिर टूटकर मसजिद बनने की बात याद आते ही इनका हृदय हिल उठा। यह बोले—

"औरंगजेब के अत्याचार का नमूना है! मुसलमानों के साम्राज्य नष्ट होने के आरंभ का स्मारक है! उस समय के हिंदुओं की कायरता की बानगी है और अँगरेजों के सुराज्य की प्रशंसा करने के लिये दुंदुभी है। ओहो! कैसा भयानक समय था? किंतु काल बली ने उसे भी नष्ट कर डाला। जिस दुरात्मा ने पिता को कैद करके, भाइयों को मरवाकर, पुत्रों को सताकर हिंदुओं के धर्म को लातों से कुचल डाला, वह शायद जानता होगा कि मैं अमर जड़ी खाकर आया हूँ। मैं कभी मरूँगा ही नहीं किंतु काल उसे भी खा गया, मुगलई बादशाहत को खा गया और मुसलमानी साम्राज्य को खा गया!"

यों पछताते, दुःख पाते जब यह भोलनाथ के सामने हुए तो एकदम इनके मन के समस्त विकार हवा की तरह उड़ गए। इन लोगों ने पहले साष्टांग प्रणाम किया फिर खड़े होकर, हाथ जोड़े हुए, पलक मारे बिना महादेव की मूर्ति में लौ लगाए पंडितजी ने प्रार्थना की—

बिलावल—"शंकर महादेव देव भक्तन हितकारी। (टेक)
शीश गंग, भस्म अंग भाल चंद्र धारी।
ओढ़े तन व्याघ्रखाल, लिपट रहे कंठ व्याल,
गौरी अर्द्धंग बाल, पाप पुंज हारी।
राजत गल रुंडमाल, राजिव लोचन विशाल,
कर में डमरू रसाल, मार मान मारी।
दर्शन तें पाप जात, पूजन सुर पुर पठात,
गाल के बजात नाथ देत मुक्ति चारी।
गोपिनाथ* गिरिजापति, गिरिधर प्रिय, गिरातीत,
गावत गुण वेद चार, पावत नहिं पारी।"

प्रियंवदा ने यह सवैया पढ़ा—

"दानि जो चार पदारथ को त्रिपुरारि तिहूँ पुर में शिर टीको।
भोलो भलो भले भाव को भूखो भलोई कियो सुमिरें तुलसी को॥
ता बिन आस को दास भयो, कबहूँ न मिट्यो बड़ लालच जी को।
साधो कहा कर साधन तें जो पै राधो नहीं पति पारवती को॥"

गौड़बोले ने यह सवैया गाकर सुनाई—

जातें जरैं सब लोक विलोक त्रिलोचन सो विष लोक लियो है।
पान कियो विष भूषन भो करुणा वरुणालय सांईं हियो है॥
मेरो ही फोरिबे जोग कपार किधों कछु काहू लखाय दियो है।
काहे न कान करो बिनती तुलसी कलिकाल बिहाल कियो है॥

* पंडित फतहसिंहजी रचित।

इस प्रकार से स्तुति करने के अनंतर पंडितजी ने वेद-विधि से विश्वंभर विश्वनाथ का स्वयं अपने हाथों से रुद्राभिषेक किया, गौड़बोले समेत ग्यारह संस्कृतवेत्ता अच्छे कर्मनिष्ठ ब्राह्मणों से लघुरुद्र याग करवाया और प्रियंवदा ने शिव-पार्वती का भक्तिपूर्वक पूजन करते समय गिरिराज-किशोरी से प्रार्थना की—

"जगज्जननी, पूजन करने के लिये आपने जिस महानुभाव के चरणों की, इस दासी को दासी बनाया है वह कम नहीं है। इस घोर कलिकाल में उनकी भी सेवा बन जाय तो बहुत है, किंतु आज मैं, हे माता! हे शंकरप्रिया! तुम्हारी एक स्वार्थवश पूजा करती हूँ। जैसे तुम्हारा सौभाग्य चिर-स्थायी है वैसे ही मेरा अहिवात अमर रखियो। जैसे महादेव बाबा का तुम्हारे ऊपर अलौकिक प्रेम है वैसा ही इनका इस गँवारी दासी पर बना रहे और जिस जगह मैं कर्मवश जन्म लूँ वहाँ, जन्मजन्मांतरों में भी सदा ही इनकी दासी बनी रहूँ। बस माता मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"

"अथवा यों कि युगयुगांतर तक मैं इसे अपना दास बनाए रक्खूँ! और बेटा क्यों न माँगा?" इस तरह अर्द्ध स्फुट शब्दों के साथ पंडितजी मुसकुराए और तिरछी चितवन से आँखों में हाँ और वाणी से ना करते हुए "देव मंदिर में भी दिल्लगी!" कहकर लज्जा के मारे प्रियंवदा ने सिर झुका लिया। अब "सावधान!" कहकर गौड़बोले ने

इन्हें खिताया तब कुछ अपनी लज्जा को छिपाते हुए सचेत होकर पंडितजी बोले—

"बाबा, मैं तेरी क्या स्तुति करूँ! तू मेरे इष्टदेव का भी इष्टदेव है। मुझ जैसे मन के दरिद्री, धन के दरिद्री और तन के दरिद्री में इतनी शक्ति कहाँ जो तुझे पूजा से, वंदना से, आराधना से प्रसन्न कर सकूँ। परंतु शास्त्र कहते हैं, वेदों ने कहा है और शिष्ट सज्जन कह गए हैं कि तू धन से प्रसन्न नहीं होता, तन से प्रसन्न नहीं होता, केवल मन से प्रसन्न होता है। जो मन से भक्तिपूर्वक केवल आक, धतूरा चढ़ा देता है बस उसी से तू राजी है, उसी को निहाल कर देता है। मैं धन का दरिद्री नहीं हूँ। निर्धन होने पर भी मुझे रुपया वैभव नहीं चाहिए। जो कुछ है वही बहुत है। जो है वह भी एक तरह की उपाधि है। किसी दिन उससे उदासीन होकर वानप्रस्थ आश्रम नसीब हो तब जीवन का सार्थक्य है। तू सचमुच भोलानाथ है। और और देवताओं को, मेरे आराध्य देव तक को प्रसन्न करने के लिये एक उमर का काम नहीं, एक युग का काम नहीं और एक कल्प का काम नहीं, जन्म-जन्मांतर तक, युगों तक, कल्पों तक नाक रगड़ते मर जाओ तब कहीं उसके प्रसन्न होने की पारी आए। सोना जितना तपाया जाता है उतना ही उसका मूल्य बढ़ता है। बस अनन्य भक्ति को दृढ़ करने के लिये वह भी अपने भक्त को पहले खूब तपा लेता है तब प्रसन्न होता है और फिर ऐसा

प्रसन्न हो जाता है कि उस भक्त को अपने से भी बड़ा बना लेता है। किंतु तू प्रसन्न भी जल्दी होता है और नाराज भी तुरंत ही। धन्य बाबा, तेरी गति अपरंपार है। हे नाथ, रक्षा कर! रक्षा कर! मैं तेरी दया का भिखारी हूँ और तू अवघड़ दानी है। मैं भक्ति का ग्राहक हूँ और तू भोला भंडारी है। गोस्वामी तुलसीदासजी के समान मुझ अकिंचन में सामर्थ्य नहीं है जिन्होंने अपनी भक्ति के बल से मुरलीधर को धनुर्धर बना दिया था, किंतु जहाँ तू है वहाँ वह है। तुझमें वह और उसमें तू है। तू और वह एक ही है। हे नाथ! मेरा उद्धार कर! मुझे संसार की उपाधियों से, दुनिया के दुःखों से बचा! विश्व का नाथ होकर उसको पैदा करने-वाला तू, तूही उसकी स्थिति का हेतु और तूही संहारकर्त्ता है।" ऐसे कहते हुए पंडितजी प्रेमाश्रु बहाने लगे, गौड़बोले भक्तिरस में अपनी देह को भूलकर नाचने लगा और थोड़ी देर तक ऐसा समा जमा रहा कि दर्शक अवाक् होकर टक-टकी लगाए देखते के देखते रह गए।

पंडितजी को थोड़ी देर में जब चेत हुआ तब वह गौड़-बोले से बोले—

"वास्तव में दोनों एक ही हैं। इसमें वह और उसमें यह हैं। चाहिए मन की एकाग्रता, अनन्य भक्ति, निःस्वार्थ प्रेम। बस इससे बढ़कर दुनिया में कोई नहीं। ज्ञान नहीं, वैराग्य नहीं और कुछ नहीं। सब इसके चाकर हैं।"

"यथार्थ है! बेशक सही है!" कहकर गौड़बोले ने अनुमोदन किया और तब फिर पंडितजी बोले—

"आज मुझसे एक भूल हो गई। भूल का प्रयोजन तो आपने समझ ही लिया। इसी लिये समय को देखते हुए, लोगों के कलुषित मनों की थाह पाकर कहना पड़ता है कि देवस्थानों में, तीर्थों पर स्त्री पुरुषों का साथ होना बुरा है। इसी लिये युवतियों का पिता भाई के साथ एकांत में रहना वर्जित है। मुझसे भूल हुई, पाप नहीं हुआ और जो भूल हुई उसके लिये क्षमा करनेवाला भी भोला भंडारी है, किंतु देवदर्शनों में, यात्राओं में, भीड़ में, अनेक दुष्ट लोग स्त्रियों को सताकर कुकर्म करते हैं। पुण्य करने के बदले लोग पाप-बटोरते हैं। अनेक कुलटाओं को ऐसे पुण्यस्थलों पर अपने जारों से मिलने का अवसर मिलता है। अनेक नर राक्षस ऐसी जगहों में परनारियों की लाज लूटते हैं और उस समय कामांध होकर नहीं जानते कि नरक में हमें कैसी यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी। कामदेव के विनाश करनेवाले के समक्ष यदि ऐसा अनर्थ हो तो बहुत खेद की बात है। इसका कुछ प्रतीकार होना चाहिए।"

इस तरह कहते हुए ये लोग घर पहुँचे और बूढ़ा बुढ़िया भक्तिरसामृत का पान करके कृतकृत्य हुए।

प्रकरण—३२

भक्तिरस की अमृत-वृष्टि

पंचकोशी की यात्रा में देवदर्शनों का जो आनंद हुआ, तीर्थस्नान का जो सुख हुआ वह "सर्वेपदा हस्तिपदे निमग्नाः" इस लोकोक्ति से भोलानाथ के दर्शन और गंगाजी के स्नान इन दोनों बातों के अलौकिक आनंद में समा गया। काशी-निवासियों को इस यात्रा में काशी की तंग गलियों से छुटकारा होकर मैदान की हवा खाने का थोड़े दिनों के लिये मजा मिलता है, घर में चूल्हा फूँकते फूँकते उकताकर वहाँ की रमणियाँ यात्रा में दाल बाटी उड़ाती हैं, और जो लोग दिन रात घरों में बैठे रहते हैं उन्हें तो पाँच कोस पैदल चलने से अवश्य ही आनंद मिलता है किंतु इस यात्रापार्टी के लिये नगरवासियों का आनंद कुछ भी आनंद नहीं है इसलिये ऐसी साधारण बात को आनंद वा अनुभव की लिस्ट में दर्ज करना पंडितजी को पसंद नहीं और इसी कारण यह लेखक भी एक तरह लाचार है। हां! बूढ़े भगवानदास के प्यारे और भोले बेटे गोपीबल्लभ को इस यात्रा में एक बात नई मिल गई और उस पद्य को उसने कंठ भी कर लिया। अब जब उसे छेड़ा जाता है तब ही वह तुरंत सुना देता है और जब उसे अवकाश मिलता है तब कभी कुछ जोर से, कभी आधे बाहर और

आधे भीतर शब्दों में और कभी मन ही मन इस तरह गुन-गुनाया करता है—

"शिवपुर गइली झटपट खइली, कपिलधारा गइली रोय।
भिमचंडी गइली गठरि गुमौलों, अब न जाब पचकोस॥"

काशीवालों के पंचकोशी के अनुभव का यह निचोड़ है। यह अनुभव वहाँ के पढ़े लिखे लोगों का अथवा उच्चवर्ण के आदमियों का नहीं, मजदूरी पेशा लोगों का है। समय और असमय जब कभी पंडितजी इसे सुनते हैं तब मुसकुरा उठते हैं और कभी कभी उसे छेड़कर सुनते भी हैं।

पंचकोशी की यात्रा में सामान्य रूप से और काशी के प्रधान प्रधान देवस्थान होने से विशेष करके इन्होंने वहाँ अन्न-पूर्णा, बिंदुमाधव, कालभैरव, ढुंढिराज, दुर्गा और ऐसे ऐसे नामी नामी मंदिरों के दर्शन करने में, मणिकर्णिका पर स्नान करने में, गया श्राद्ध के निमित्त पिशाचमोचनादि स्थलों पर श्राद्ध करने में जो आनंद लूटा उसका नमूना गत प्रकरणों में आ चुका। उसे किसी न किसी रूप में यहाँ प्रकाशित करके पोथी को पोथा बना देने में कुछ लाभ नहीं। हाँ एक दिन ये लोग घाट घाट की यात्रा करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी के आश्रम पर गए। जिस स्थान पर बैठकर एकाग्र चित्त बड़ी भक्ति के साथ महात्मा ने "रामायण मानस" की रचना की थी, जहाँ पर उनका देहावसान हुआ था उसी पुण्य स्थल पर यदि रामायण की

कथा होती हो और सो भी तबला सारंगी पर, हार्मोनियम के साथ अनेक लयों से गा गाकर होती हो तो वह आनंद वास्तव में अपूर्व है। भगवान् विष्णु ने देवर्षि नारदजी से कहा है और यथार्थ कहा है कि "मैं न तो कभी वैकुंठ में रहता हूँ और न योगियों के हृदय में। मेरा निवास, मेरा पता उसी जगह समझो अथवा मैं उसी स्थान पर मिलूँगा जहाँ मेरे भक्त मेरा यश गा रहे हों।" बस यही हाल यहाँ का था। गानेवाले कोई भड़ैती गायक नहीं थे। सब ही जो इस काम में लगे हुए थे वे सचमुच देहाभिमान भूले हुए थे। श्रोतागण भी टकटकी लगाए चित्त को, अंतःकरण को रामकथा में लगाए सुन सुनकर मुग्ध हो रहे थे। प्रसंग भी ऐसा वैसा नहीं, रत्नों के भंडार में से निकला हुआ, अपने प्रकाश से भक्तों के हृदय मंदिर को प्रकाशित करनेवाला कोह-नूर हीरा था। जिस समय ये लोग पहुँचे भक्तवत्सल भगवान् रामचंद्रजी के शब्दों में—

"सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।
जान भुशुंडि शंभु गिरिजाऊ॥
जो नर होइ चराचर द्रोही।
आवइ सभय शरण तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना।
करौं सद्य तिहिं साधु समाना॥

जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धन भवन साधु परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहिं बाँध बटि डोरी॥
समदर्शी इच्छा कछु नाहीं।
हर्ष शोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे।
लोभी हृदय बसै धन जैसे॥
तुम सारिखे संत प्रिय मोरे।
धरौं देह नहिं आन निहोरे॥"

गाया जा रहा था। अवश्य मर्यादापुरुषोत्तम का यह उपदेश राक्षसराज बिभीषण के लिये था किंतु यह प्रत्येक मनुष्य के लिये भक्ति-मार्ग का पथदर्शक है, हिये का हार बनाने योग्य है, मन की पट्टी पर प्रेम की मसि और भक्ति की लेखनी से लिख रखने योग्य है और स्वर्णाक्षरों में लिखकर ऐसी जगह लटका रखने योग्य है जहाँ सोते, बैठते, खाते, पीते हर दम दृष्टि पड़ती रहे। क्योंकि इन वाक्यों में से, इनके प्रत्येक शब्द में से अमृत टपक रहा है और यह वह अमृत नहीं है जिसके लिये देवता और असुर कट मरे थे। उस अमृत का एक बार पान करने से मनुष्य तृप्त हो जाता है, उसे दूसरी बार पीने की आवश्यकता नहीं रहती किंतु इससे कभी मनुष्य अघाता नहीं। वह अमृत घोर तप करने से, अनेक जन्मों की

आराधना से यदि किसी किसी को प्राप्त हो तो हो सकता है। और हुआ भी तो उसका फल क्या? केवल यही न कि "कभी न मरना।" परंतु क्या कभी न मरनेवाले की मुक्ति हो सकती है? नहीं। पाप पुण्य का प्रपंच सदा ही, स्वर्ग में जाने पर भी उसके पीछे लट्ठ बाँधे तैयार रहता है और इस प्रपंच की बदौलत प्राणी फिर गिरता है और फिर सँभलता है। बड़े बड़े देवता, बड़े बड़े ऋषि मुनि ऐसे प्रपंचों से गिरते हुए पुराणों में देखे गए हैं किंतु इस अमृत में प्रपंच का लेश नहीं, चढ़ने के अनंतर गिरने का स्वप्न नहीं, और जो कभी दैत्यराज हिरण्यकशिपु का सा घोर शत्रु गिराने का प्रयत्न करे तो प्रह्लाद भक्त की तरह उसे हाथों हाथ ले लेनेवाला तैयार। इसका प्रमाण इसी से है—"धरौं देह नहिं आन निहोरे।" यही भगवान् की वेदविहित आज्ञा है. केवल उनके पादपद्मों में डोरी बाँध देनेवाला चाहिए। पंडित प्रियानाथ के हृद्गत भावों का यही निष्कर्ष है। शास्त्रकारों ने मुक्ति चार प्रकार की बतलाई है—सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य और सायुज्य। भगवान् के भक्त जब मोक्ष नहीं चाहते, मोक्ष से, सायुज्य मुक्ति से जब उनका अस्तित्व ही जाता रहता है और इसलिये उन्हें घड़ी घड़ी, पल पल, विपल विपल ईश्वर की भक्ति करने का अलौकिक आनंद मिलना बंद हो जाता है तब उन्हें यदि चाहिए तो केवल सामीप्य मुक्ति। बस इसके द्वारा वे सदा भगवान् के चरणारविंदों में लोटते रहें और भक्तिरस के

अद्भुत अमृत का पान करते हुए पड़े रहें। ऐसे भक्तों के लिये जन्म मृत्यु कोई चीज नहीं, सुख दुःख कोई पदार्थ नहीं। बल्कि सुख से दुःख अच्छा है। सुख उनके उद्देश्य का पालन करने में बाधा डालनेवाला है और दुःख भगवान् के चरणकमलों की ओर खेंच ले जाने का मुख्य साधन है। गौड़-बोले के शब्दों का यही निचोड़ है। किंतु प्रियंवदा, भगवान-दास और चमेली की तो बात न पूछो! उनके लोचनों में से इस समय प्रेमाश्रु की धाराएँ बह रही हैं। जैसे जन्म का दरिद्री एकदम कहीं का खजाना पाकर दोनों हाथों से, चार आठ सोलह अथवा हजार हाथ न हो जाने पर पछताता हुआ उसे लूटता हो उसी तरह उस स्वर्गीय सुख को वे लूट रहे हैं। चोर को ऐसी लूट के समय अवश्य ही पकड़े जाने का भय रहता है, इसके कारण वह चौकन्ना होकर बार बार इधर उधर देखता जाता है। किंतु इन्हें तो आनंद एकाग्र चित्त से निर्भय होकर लूटने में है, क्योंकि इस लूट में न तो यमराज का भय है और न किसी राजा वा बादशाह का।

ऐसी दशा में पंडितजी जैसा कोमलहृदय, गौड़बोले जैसा सरलहृदय विह्वल न हो जाय, यह हो ही नहीं सकता। जब मिथिलाधिपति राजा जनक जैसे वेदांताचार्य को कहना पड़ा था कि—

"कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।
मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक॥

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय बेष धरि सोइ कि आवा॥
सहज विराग रूप मन मोरा।
थकित होत, जिमि चंद चकोरा॥
तातें प्रभु पूछउँ सति भाऊ।
कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इनहिं बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा॥

जहाँ राजा जनक जैसे ब्रह्मज्ञानी को भी भगवान् के दर्शन करके 'बरबस' ब्रह्म का सुख त्यागना पड़ा था तब बिचारे ये किस गिनती में हैं। कथा विसर्जन होने तक ये लोग वहाँ बैठे हुए अवश्य ही भक्तिरस की खूब लूट मचाते रहे परंतु समाप्त होने पर इन्हें वहाँ से लौटना पड़ा। पंडितजी चलते चलते बोले—

"सबसे अधिक धन्य तो रामभक्तों के शिरोभूषण हनुमानजी हैं जो जहाँ कहीं भगवत्चर्चा होती हो, रामायण पढ़ी जाती हो वहाँ बुलाए और बिना बुलाए दोनों तरह आ विराजते हैं। ब्रह्मर्षि वाल्मीकि ने भी संसार का बड़ा उपकार किया है किंतु मेरी लघु मति से गोस्वामी तुलसीदासजी का उपकार उनसे कम नहीं, उनसे भी बढ़कर है—अप्रतिम है, अलौकिक है, स्वर्गीय है, मानुषी नहीं, वह मनुष्य नहीं देवता थे, देवताओं से भी बढ़कर थे!"

"क्यों, बढ़कर कैसे ? वाल्मीकिजी से भी बढ़कर ?"

"हाँ ! एक अंश में बढ़कर !"

"आजकल की हिंदू दुनिया का जितना उपकार तुलसी-कृत रामायण से हो रहा है उतना और किसी से नहीं । अँग-रेज इसकी दिन दिन बिक्री बढ़ती देखकर ठीक कहते हैं कि यह हिंदुओं की बाइबिल है । केवल अक्षरों का अभ्यास करके "टेंपे टेंपे" बाँच लेनेवाले को भी इसमें आनंद है और धुरंधर विद्वानों को भी । वास्तव में बादशाह अकबर का जमाना हिंदुओं के लिये इस अंश में सतयुगी शताब्दि था जिसमें महात्मा तुलसीदासजी जैसे अनन्य भक्त पैदा हुए ।"

"हाँ ! यह आपका कहना ठीक है । गोसाईंजी कवि भी अच्छे थे और भक्त भी थे, परंतु वाल्मीकिजी से कैसे बढ़ निकले ?"

"गौड़बोले महाशय, आप दाक्षिणात्य हैं । आप इसके मर्म को नहीं समझ सकते, क्योंकि हिंदी आपकी मातृभाषा नहीं । सुनिए, यद्यपि वाल्मीकि रामायण में यह अच्छी तरह निरूपण किया गया है कि रामचंद्रजी भगवान् का अवतार थे किंतु उसमें भक्ति नहीं है । वह एक इतिहास है और इसके अक्षर अक्षर से भक्तिरस टपका पड़ता है, उसका प्रवाह होता है । वह संस्कृत में है, और संस्कृत का पढ़ना लोहे के चने चबाना है । सर्व साधारण को तो पेट के धंधे के मारे संस्कृत पढ़ने की फुरसत ही नहीं और जो पढ़े लिखे कहलाते भी हैं

उनके लिये वह लैटिन वा ग्रीक है। हमारी दुर्दशा आप क्या पूछते हैं ? वेद भगवान् के वाक्य हैं। हम लोग वेद को ही परमेश्वर मानते हैं किंतु वह वेद जर्मनी में छपे और उसे किसानों का गान बतलाने का विदेशियों को अवसर मिले और हम उसका एक भी अक्षर न जानकर उनकी हाँ में हाँ मिला दें ! फिर तुलसीदासजी अकेले वाल्मीकिजी के ही भरोसे तो नहीं रहे। भगवान् व्यास, महर्षि वाल्मीकि वा और अन्यान्य लेखक महात्मा जो उनसे पहले हो गए हैं उन सबके अनुभव का मक्खन उनका ग्रंथ है।"

"हाँ ठीक !"

"हाँ ठीक ही नहीं ! इससे भी बढ़कर यह कि आज-कल के लेखक जब अपने जरा से काम के लिये घमंड में चूर हैं, जरा सी पोथी बनाते ही जब लोकोपकार का डंका पीटते हैं तब उन्होंने लिखा है और ऐसे लोकोपकारी ग्रंथ के लिये लिखा है कि "मैंने केवल अपने मन का संतोष करने के लिये जो कुछ मन में आया कह डाला है। ग्रंथ-निर्माण की मुझमें योग्यता नहीं।" बोलिए, इससे बढ़कर नम्रता क्या होगी ? आत्म-विसर्जन क्या होगा ? वह जमाना कविता का था। तुलसीदासजी यदि चाहते तो किसी राजा की खुशामद करके लाख दो लाख पा सकते थे किंतु उन्होंने रुपयों के बदले तुंबी ली और अपना सर्वस्व छोड़कर भगवान् की शरण ली। वाल्मीकिजी ने भीलों के कर्म छोड़कर यश पाया और इन्होंने धन दारा छोड़कर।

"बेशक यथार्थ है ! वास्तव में सत्य है।"

इस तरह बातें करते करते जिस समय ये लोग गंगा के किनारे किनारे माधवराव के धरहरा के निकट पहुँचे तब इनकी इच्छा हुई कि "एक झलक इनमें से किसी पर चढ़कर काशी की भी देख लेनी चाहिए क्योंकि काशी भारतवर्ष की संसारप्रसिद्ध सप्तपुरियों में से है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है कि—

"सेइय सहित सनेह देह भर कामधेनु कलि कासी।
समन सोक संताप पाप रुज सकल सुमंगल रासी॥
मर्यादा चहुँ ओर चरण वर सेवत सुरपुर बासी।
तीरथ सब सुभ अंग रोम सिव लिंग अमित अविनासी॥
अंतर अयन अयन भल थल फल बच्छ बेद बिस्वासी।
गलकंबल बरुना बिभाति जनु लूम लसत सरिता सी॥
दंडपानि भैरव बिसाल मल रुचि खलगन भयदा सी।
लोल दिनेस त्रिलोचन लोचन करनघंट घंटा सी॥
मनिकर्निका बदन ससि सुंदर सुर सरि सुखमा सी।
स्वारथ परमारथ परिपूरन पंचकोस महिमा सी॥
विस्वनाथ पालक कृपालु चित लालति नित गिरिजा सी।
सिद्धि सची सारद पूजहिं मन जुगवत रहत रमा सी॥
पंचाक्षरी प्रान मुद माधव गव्य सुपंच नदा सी।
ब्रह्मजीव सम राम नाम दोउ आखर बिस्व बिकासी॥
चारित चरित कुकर्म कर्म कर मरत जीव गन कासी।

लहत परम पद पय पावन जिहि चहत प्रपंच उदासी ॥
कहत पुरान रची केसव निज कर करतूति कला सी ।
तुलसी बस हरपुरी राम जप जो भयो चहै सुपासी ॥''

बूढ़े बुढ़िया चढ़ाई का नाम सुनते ही डर गए। उन्होंने पंडितजी से पूछकर टिकने के स्थान का रास्ता लिया। प्रियंवदा चाहती तो पहले ही उनके साथ घर को जा सकती थी किंतु इधर चढ़ने की इच्छा और इधर थकावट का भय। इसे देखकर गोपीवल्लभ का भी जी ललचाया। पंडितजी और गौड़बोले के पीछे पीछे पचास चालीस सीढ़ियाँ ये दोनों चढ़े भी किंतु वे दोनों ऊपर जा पहुँचे और ये दोनों अधबिच से लौट आए। लौट आकर धरहरे के पास सायंकाल की कुछ झुरमुट सी में दोनों खड़े खड़े ऊपरवालों की राह देखने लगे। होनहार बड़ी बलवती है। यदि ऐसा न होता तो जगज्जननी जानकी को मायामृग मरवाने के लिये पहले पति को भेजने की और फिर देवर को ताना देने की क्यों सूझती! जब से उस नौकारूढ़ संन्यासी ने "समझ लेंगे" कहा था तब से डर के मारे कभी प्रियंवदा पति का एक पल के लिये भी साथ नहीं छोड़ती थी। किंतु पतिव्रता स्त्री के लिये जब पति चरणों का सबसे बढ़कर सहारा है तब यदि वह चढ़ जाने में ही थक जाती तो क्या होता? खैर हुआ वही जिसका भय था। राम जाने ले जानेवाले कौन थे और आए किधर से थे, किंतु चार लठैतों ने आकर पहले गोपीवल्लभ पर कंबल डाला।

फिर दूसरे कंबल से प्रियंवदा की गठरी बाँधकर सिर पर लादे हुए यह गए! वह गए! और पंडितजी के ऊपर से देखते देखते गायब हो गए। इन दोनों की इच्छा हुई कि ऊपर से कूद पड़ें, परंतु कूद पड़ना हँसी खेल नहीं। जान झोंककर गिरते तो उसी समय चकनाचूर हो जाते। इन्होंने नीचे आकर देखा तो गोपीवल्लभ बेहोश। बस ये दोनों के दोनों हाथ मलते पछताते रह गए।

प्रकरण—३४

प्रियंवदा को पकड़ ले गए

प्रियंवदा को गायब हुए आज शनि शनि आठ दिन हो गए। लोग कहते हैं कि शनिवार को किया हुआ काम चिरस्थायी होता है। मालूम होता है कि यह खयाल सच्चा है। वास्तव में वह ऐसी कुसायत में गई है, गई क्या उस विचारी को बदमाश पकड़ ले गए हैं कि कहीं अब तक उसके पते तक का पता नहीं। पंडितजी केवल नाम के पंडित नहीं, वह अच्छे ज्योतिषी भी हैं और उन्होंने काशी के बड़े बड़े धुरंधर ज्योतिषियों से पूछकर भरोसा कर लिया है कि उनकी प्राणप्यारी अवश्य मिल जायगी और मिलेगी भी अछूत, बेलाग, अपने सतीत्व की रक्षा करके। उसे पकड़कर ले जाने में उसका दोष क्या? पति के साथ ऊपर न जाने में उसकी भूल वास्तव में हुई किंतु प्राणनाथ और देवर दोनों को, मृग के लिये भेजकर जन-शून्य वन में अकेली रह जाने में जब जगज्जननी जानकी की भूल हुई तब बिचारी प्रियंवदा किस गिनती में है! कुछ भी हो किंतु वह गई पंडितजी के बारहवें चंद्रमा में और मंद नक्षत्र में। इसलिये यदि मिलेगी तो असह्य चिंता के बाद, जी तोड़ परिश्रम के अनंतर और खोज करने में धरती आकाश एक कर डालने पर। हाँ ठीक,

परंतु उस चिंता की, उस परिश्रम की और उस उद्योग की भी तो कुछ सीमा होनी चाहिए। वह गौड़बोले को साथ लेकर काशी की गली गली छान चुके, वहाँ की पुलिस पसीना-भार परिश्रम करके पच हारी। इनामी नोटिस देने में भी कुछ उठा नहीं रखा गया।

उन्हें अपने इष्टदेव का पूरा विश्वास है कि वह निःसंदेह कृपा करेगा। वह बारंबार ऐसा ही कहा करते हैं। वह सहसा घबड़ानेवाले आदमी नहीं। वह अच्छी तरह जानते और मानते हैं कि जब शरीर ही अनित्य है तब स्त्री क्या? उन्हें निश्चय है कि नर-शरीर धारण करने पर भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम दशरथनंदन भी जब ऐसी ऐसी विपत्ति से नहीं बच सके तब बिचारे कीटानुकीट प्रियानाथ की बिसात ही कितनी! वह इसी सिद्धांत के मनुष्य हैं कि जो कुछ भला और बुरा होता है वह अपने कर्मों के फल से। वह समझते हैं कि उद्योग मनुष्य का कर्त्तव्य है और परिणाम परमेश्वर के अधीन है। इन्हीं बातों को सोचकर, वह चाहे अपने मन को ढाढ़स देने में कुछ कमी न रखते हों, साथ ही गौड़बोले जैसे विद्वान् और बूढ़े भगवानदास जैसा अनुभवी उन्हें उपदेश देने को मौजूद हैं किंतु सचमुच ही आज उनकी दशा में और एक पागल में कुछ भी अंतर नहीं है। वह खूब जोर देकर साहस बटोरते और अपनी अकल ठिकाने लाते हैं किंतु आज-कल धीरज का भी धीरज भाग गया है। जब उनका चित्त

ठिकाने आता है तब कमर कसकर प्यारी की तलाश में प्रवृत्त होते हैं और जब उनका प्रयत्न निष्फल चला जाता है तब हाथ मारकर रो देते हैं। ऐसे वह घंटों तक रोया करते हैं, रोते रोते मूर्च्छित हो जाते हैं और जब उन्हें कुछ होश आती है तब बावले की तरह यों ही वाही तबाही बकने लगते हैं। वह अपनी प्यारी का पता राह चलते आदमियों से पूछते हैं, मकानों से पूछते हैं, घाटों से पूछते हैं, सड़क की लालटैनों से पूछते हैं और जो कुछ सामने आता है उससे पूछते हैं। किंतु लाखों आदमियों की बस्ती में उनकी गृहिणी का पता बतलानेवाला नहीं, पता गया भाड़ चूल्हे में, ऐसा भी कोई माई का लाल नहीं जो मीठी बातों से कोरी सहानुभूति दिखलाकर "वचने का दरिद्रता" का तो दिवाला न निकाल दे। हाँ! उन्हें पागल समझकर चिढ़ानेवाले, लूलू बनानेवाले और झूठे-मूठे पते बतलाकर उनको सतानेवाले अवश्य मिलते हैं।

बस आज इसी दशा में रात्रि के दस बजे एक तंग और अँधेरी गली में, जिसके विशाल विशाल भवन अपना सिर ऊँचा उठाए आकाश से बातें कर रहे हैं, पंडितजी घूम रहे हैं। वह कभी खड़े होकर "प्यारी प्यारी!" और "प्रियंवदा प्रियंवदा!" की चिल्लाहट से कान की चैलियाँ उड़ाते हैं और कभी "धप! धप!! धप!!!" पैरों को बजाते गली के एक छोर से दूसरे छोर तक चक्कर लगाते फिरते हैं। कहीं से, किसी की, कैसी भी सुरसुराहट उनके कान पर पड़ जाती है तो तुरंत ही

वहाँ खड़े होकर, कान लगाकर उसे सुनने का प्रयत्न करते हैं। कदाचित् इसी से कुछ मतलब निकल आवे इस आशा से टूटे फूटे शब्दों को जोड़ते हैं और फिर निराश होकर चल देते हैं।

इस तरह कई बार निराश होने के अनंतर गली के दोनों ओर से मकान की खिड़कियों में से मुँह निकाले हुए दो रमणियों के मृदु, मधुर और मंद स्वर आ आकर उनके कानों के पर्दों पर टकराने लगे। प्रथम तो काशीवालियों की बोल चाल, फिर चाहे लज्जा से अथवा भय से उनके शब्द ही अस्फुट और फिर पंडितजी नीचे और वे ललनाएँ आमने सामने दो मकानों की चौथी मंजिल पर। इस कारण उनकी बातचीत में से वह केवल इतना सा सुन पाए कि—

"चाँद का टुकड़ा है ...प्रियंवदा......नाम भी बढ़िया है......मर जाना मंजूर है... ..मानती नहीं . ..."

वे दोनों स्त्रियाँ न मालूम किस प्रियंवदा के बारे में बातें कर रही थीं। क्या पंडितजी ने नगर दुहाई फेर दी थी कि उनकी प्यारी के सिवाय किसी का नाम प्रियंवदा रखा ही न जाय किंतु उन्होंने मान लिया कि—"चर्चा मेरी प्रियंवदा ही के लिये है।" बस इस भरोसे पर अत्यंत चिंता के अनंतर अपनी इच्छित वस्तु पाकर जैसे आदमी हर्षविह्वल हो जाया करता है वैसे ही वह भी हो गए। उस समय यदि अंतःकरण को थोड़ा सा रोककर दोनों की बातचीत कुछ और भी सुन लेते तो खोज करने में उन्हें कुछ सहारा मिल

जाता। वह मन को रोक न सके। वह तुरंत ही चिल्ला-कर बोल उठे—

"हाँ! वही इस अभागे की घरवाली! उसका पता बत-लाकर हम दोनों प्राणियों को जीवदान दो। उसके बिना मैं मरा जाता हूँ। बड़ा उपकार होगा।"

पंडितजी की आवाज सुनकर वे दोनों एक बार खिल-खिलाकर हँस पड़ीं और तब "कल जलसाईं पर मिलेंगी" कहती हुई अपने अपने कोठों में जा छिपीं। इसके अनंतर बीसों बार पुकारने पर भी किसी ने कुछ जवाब न दिया। कुछ खटका तक सुनाई न दिया। यों जब फिर निराश होकर इसी उधेड़ बुन में लगे हुए पंडितजी आगे बढ़े तब कोई पचास साठ पग चलने के अनंतर उनके आगे "फट्" की आवाज के साथ कोई चीज आकर गिरी। उन्होंने वह वस्तु उठाकर टटोली, खूब आँखें फाड़ फाड़कर देखी परंतु अँधेरे में कुछ भी निश्चय नहीं हो सका कि कपड़े में क्या बँधा हुआ है! और वह न गाँठ ही खोलकर देख सके। अस्तु वह कदम बढ़ाए उतावले उतावले चलकर गली की मोड़ पर लालटेन के निकट पहुँचे। वहाँ गाँठ खोलकर देखते ही हलकी सी चीख मारकर एकदम बेहोश हो गए और उसी दशा में धरती पर गिर पड़े।

शायद इस बात से मनचले पाठक ऐसा अनुमान कर लें कि इस पोटली में कोई बेहोशी की दवा होगी अथवा ऐसा कोई चिह्न अवश्य होना चाहिए जिसका संबंध उन रमणियों

के संभाषण में "मर जाना मंजूर है" और "जलसाईं (मरघट) पर मिलेंगी" से लगाकर पंडितजी ने अपनी प्रियतमा की मृत्यु हो जाना मान लिया है। जो अटकल लगानेवाले हैं उन्हें इसका मतलब निकालने के लिये उलझने दीजिए। उनकी उलझन से यदि प्रियानाथ की प्रिया का पता लग जाय तो अच्छी बात है। किंतु हाँ! यह अवश्य लिख देना चाहिए कि इस जन-शून्य स्थान में इस समय न तो कोई उनकी आँखें छिड़ककर उनकी बेहोशी छुड़ानेवाला मिला और न उनकी चोट पर पट्टी बाँधकर कोई उपचार करनेवाला। एक बार पंडितजी ने किसी साधु के सामने वैद्यक शास्त्र के उपचारों की जब बहुत प्रशंसा की थी तब उसने स्पष्ट ही कह दिया था कि—"ये सब निमित्त मात्र हैं। यदि परमेश्वर रक्षा करना चाहे तो बिना किसी उपचार के प्रकृति स्वयं इलाज कर लेती है।" उस समय पंडितजी साधु की बात पर चाहे हँसे भले ही हों किंतु आज प्रकृति के सिवाय उन्हें कोई चिकित्सक नहीं मिला। कोई घंटे डेढ़ घंटे तक यों ही पड़े रहने के अनंतर उनकी अकस्मात् आँखें खुलीं। वह अब अपने रुमाल को चोट पर बाँधने के बाद कपड़ों की धूल झाड़कर खड़े हुए और जेब में पोटली डालकर आगे बढ़ निकले।

इस तरह जब वह कोई सत्तर अस्सी कदम आगे बढ़ चुके तब इस अँधेरी गली के एक अँधेरे कोने में से निकलता हुआ अचानक एक आदमी मिल गया। यद्यपि पंडितजी नहीं

जानते थे कि यह कौन है और कहाँ जा रहा है परंतु वह मनुष्य इन्हें देखकर कुछ ठिठका। उसने खड़े होकर—"घबड़ाओ नहीं। मैं तुम्हें प्रियंवदा से मिला दूँगा। यदि अभी मेरे साथ चलो तो मैं अभी मिला सकता हूँ।" कहते हुए भर-पूर ढाढ़स दिलाया और सो भी इस ढंग से कहा कि जिसे सुनते ही उन्होंने समझ लिया। उन्हें भरोसा हो गया कि "यह कोई स्वर्ग का देवता है जो नर-रूप धारण कर मुझे इस विपत्ति सागर से छुड़ाने आया है, अथवा कोई परोपकारी सज्जन है जिसका हृदय, मेरा करुण क्रंदन सुनकर, पसीज गया है।" बस उस समय उन्हें वैसा ही आनंद हुआ जैसा कई दिन के भूखे को बढ़िया से बढ़िया भोजन के लिये न्योता पाकर होता है। वह ऐसी आशा ही आशा में मनमोदक बनाते एक अपरिचित व्यक्ति के साथ हो लिए। साथ क्या हुए उन्होंने अपनी जान, अपना माल और अपना शरीर एक अन-जान आदमी के सिपुर्द कर दिया। उन्होंने यह न सोचा कि "कहीं मैं किसी गुंडे के जाल में न फँस जाऊँ?" होता वही है जो होनहार है। भावी को बदल देने की शक्ति मनुष्य में नहीं, देवता में नहीं और परमात्मा के सिवाय किसी में नहीं। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर, जिसका भृकुटी-विलास भी काल तक को खा सकता है, अवतार धारण करने के अनंतर जब केवल नरलीला करने के लिये इस भावी का वशवर्ती होकर जैसे वह नचाती है वैसे ही नाचने लगता है फिर बिचारे पंडितजी को

क्या कहा जाय! बस वह अनजान आदमी उन्हें चक्कर में डालने के लिये, ताकि वह यह न जान सकें कि कहाँ जा रहे हैं, भूलभुलैया में डालकर एक गली से दूसरी में और दूसरी से तीसरी में घुमाता हुआ दाल की मंडी में ले गया। यद्यपि पहले भी दो बार पंडितजी काशी आ चुके थे किंतु एक परदेशी के लिये रात्रि के समय यहाँ की गलियों का पता पाना सहज नहीं।

जिस समय ये दोनों वहाँ पहुँचे अकस्मात् कहीं से किसी स्त्री के रोने की आवाज आई। "सुनो! सुनो! तुम्हारी प्रियंवदा! हाँ वही रो रही है! बस पहचान लो उसकी आवाज! बोलो कैसे समय पर लाया? अगर आधे घंटे की भी देरी हो जाती तो अपनी प्यारी से जन्म भर के लिये हाथ धो बैठते।" इस तरह कहकर वह आदमी पंडितजी का हाथ थाँभे उन्हें एक मकान की साढ़ियाँ चढ़ा ले गया। यद्यपि होनहार के वशीभूत होकर उन्हें चला जाना पड़ा किंतु जिसे उन्होंने देवता समझा था वह पामर राक्षस निकला, जिसे वह महात्मा समझ बैठे थे वह तुलसीकृत रामायण का कपट मुनि निकला। कपट मुनि ने राजा प्रतापभानु से बदला लेने के लिये उसे कुकर्म में प्रवृत्त कर ब्राह्मण का मांस खिला दिया था और इस व्यक्ति का प्रपंच भी पंडितजी से बैर लेकर उन्हें दीन दुनिया से बिदा करने के लिये था। नाव में उनके हाथ से घूँसा खाकर वह चाहे उस समय भीतर ही भीतर दाँत पीसता रह गया था किंतु आज उसने ब्याज कसर से पंडितजी

का ऋण चुका दिया। पंडितजी यदि उसे अब तक न पहचान सके हों तो जुदी बात है किंतु इतना लिखने से पाठकों ने अवश्य समझ लिया होगा कि यह वही व्यक्ति है जो एक बार साधुवेष धारण किए उनके साथ भगवती भागीरथी में नाव पर दिखलाई दे चुका है। संभव है कि शायद फिर भी किसी न किसी रूप में पाठकों के सामने आ खड़ा हो।

अँधेरी गली के अँधेरे मकान की अँधेरी सीढ़ियाँ चढ़ाकर वह आदमी पंडितजी को चौथी मंजिल पर ले गया। अब ठीक मौका पाकर उसने उनको छुरे के दर्शन कराए और जब उन्होंने अपने को सब तरह पराए वश समझ लिया तब वह गुंडा पंडितजी के पास से सोने के रत्न, चाँदी की तगड़ी और जेब के रुपए पैसे छीनकर अधखुले मकान के किवाड़ों को धक्का देकर उन्हें भीतर डालने के अनंतर बाहर की जंजीर चढ़ाता हुआ फौरन ही नौ दो ग्यारह हुआ।

बाहर जो कुछ पंडितजी पर बीती सो बीती किंतु भीतर का दृश्य और भी भीषण था। वहाँ पहुँचने पर उनकी जो दशा हुई उसे या तो उनका अंतःकरण ही जानता होगा अथवा घटघटव्यापी परमात्मा। जो बात उन्होंने कभी अपनी आँखों नहीं देखी थी, जिसके लिये उन्हें कभी स्वप्न में भी ख्याल नहीं हुआ था वही उनके नेत्रों के सामने खड़ी होकर नाचने लगी। वह वहाँ का दृश्य देखकर एकदम हक्के बक्के रह गए। उसी समय घबड़ा उठे और "हाय! बड़ा गजब

हो गया!" कहकर ज्यों ही अपनी छाती पर एक जोर से घूँसा मारते हुए बेहोश होकर गिरने लगे न मालूम किसने उनको सँभाला। यदि वह गिर जाते तो उस जगह स्तंभ से सिर फूटकर उनकी जीवन लीला वहाँ की वहाँ समाप्त हो जाती। उनको जिसने मरते मरते बचाया वह कौन था सो पंडितजी न जान सके। जान क्या न सके उन्होंने देखा तक नहीं, उन्हें भले प्रकार बोध तक न हुआ कि उनको किसी ने सँभाला है। जिस व्यक्ति ने उनको मरने से बचाया वह वास्तव में कोई महात्मा होना चाहिए। सचमुच ही उसके पवित्र कर कमलों का सुख स्पर्श होते ही इस विपत्ति महासागर में से उनका उद्धार समझ लो। एकदम उनके हृदय में दुःख के चिंता के, शोक के और मोह के प्रलय पयोधर छिन्न भिन्न होकर शरत् पूर्णिमा के विमल चंद्रमा का शीतल प्रकाश निकल आया। उस शीत रश्मि की अमृत वर्षा से उनके अंतःकरण की चिता के सदृश चिंता का दहकता हुआ भीषण कृशानु एकदम बुझ गया। परमात्मा को कोटि कोटि धन्यवाद देकर पंडितजी अपनी करनी पर पछताए। अब उन्हें विदित हो गया कि—

"वास्तव में इस विपत्ति का दोषभागी मैं ही हूँ। जो अंतर्यामी दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से अपने भक्तों की रक्षा करने के लिये सदा तैयार है उसको मेरी मूर्खता ने भुला दिया। मुझे निष्काम भक्ति का घमंड था। आज गर्वप्रहारी भक्तभयहारी भगवान् ने मुझे उबारने के लिये, केवल मुझ

अकिंचन पर दया करके मेरा अभिमान छुड़ा दिया। निष्काम भक्ति अवश्य करनी चाहिए। निष्काम के बिना मुक्ति नहीं। किंतु परमेश्वर से कभी, कैसी भी विपत्ति पड़ने पर न माँगने का दावा करना भूमिशायी होकर आकाश ग्रहण करने के समान बुद्धिहीनता है। आज मुझे अच्छा दंड मिल गया।"

बस इस प्रकार के विचार मन में उत्पन्न होते ही पंडितजी ने परमेश्वर को सँभारा। कौरव-सभा में वस्त्र बनकर पाँचों पतियों से निराश हो जानेवाली द्रौपदी के रक्षक भगवान् वासुदेव का, ग्राह से बचाकर गज को उबारने के लिये नंगे पैरों दौड़ आनेवाले गरुड़हीन गोविंद का और पापी पिता के कोप की अग्नि में भस्म होते होते रक्षा कर अखंड ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाले भक्तशिरोमणि प्रह्लाद के जीवन-सर्वस्व भगवान् नृसिंह का उन्होंने स्मरण किया। उनके पश्चात्ताप उनकी प्रार्थना और उनके पूर्वकृत पुण्यसंचय से प्रसन्न होकर उस घट घट व्यापी परमात्मा ने चाहे प्रगट होकर नहीं किंतु उनकी बुद्धि द्वारा उन्हें ढाढ़स दिलाया। यद्यपि वह जन्म भर इस मूर्खता के लिये अपने को धिक्कारते भी रहे हों किंतु इस समय तुरंत ही अपना कर्तव्य स्थिर करके अब वह सच्चे उद्योग में प्रवृत्त हो गए।

प्रकरण—३५

प्रियंवदा या नसीरन

"वास्तव में दोष, क्या अपराध मेरा ही है। एक अस्थि-चर्ममय शरीर के लिये लौ लगाकर इतनी विह्वलता! राल और थूक से भरे हुए मुख पर इतना मोह! जिसका दर्शन ही चित्त को हरण करनेवाला है, जो प्रेम के फंदे में डालकर प्राण तक चूस लेनेवाली है उस पर इतनी आसक्ति! हाय बड़ा अनर्थ हुआ! राजर्षि भरत को मृगशावक के लिये मोह हुआ था और मुझे भी गृहिणी के लिये, नहीं नहीं अब मैं इसे गृहिणी नहीं कह सकता। गृहिणी वही जो केवल पति के सिवाय किसी की ओर नजर भर न देखे। यह कुलटा, साक्षात् व्यभिचारिणी! ओ हो! संसार भी कैसा दुस्तर है। जिसे एक घंटे पहले पातिव्रत की प्रतिमूर्ति समझ-कर जान देने को तैयार था वही पर पुरुष से—हाय! हाय!! आगे कहते हुए मेरा हृदय विदीर्ण होता है, मेरी जिह्वा जली जाती है। वास्तव में बड़ा गजब हो गया। जिसे मैं हिए का हार समझे हुए था वह काली नागिन! जो मेरी हृदये-श्वरी बनती थी वही मेरी जानलेवा, प्राण हरण करनेवाली डायन! बड़ा धोखा हुआ! मुझे धिक्कार है! एक बार नहीं, लाख बार! मैंने पतिव्रता समझकर कुलटा पर इतना मोह

किया! मलों से भरे हुए शरीर से प्रेम! निःसंदेह मैं मूर्ख हूँ। मैंने इतना पढ़ लिखकर झख ही मारा। राजर्षि भरत की कथा स्मरण होने पर भी मैंने आसक्ति की! कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगा तेली! राजर्षि भरत का राशि राशि पुण्य-संचय और मैं निरा पामर। उनके सुकृत उन्हें मोहसागर से उबार ले गए और मुझे अपने पाप के फल भोगने हैं। लोग भगवान रामचंद्रजी पर भी मोह होने का दोष लगाते हैं। हाँ! उन्होंने मोह दिखलाया सही किंतु नर-देह धारण करके चित्त-वृत्ति की दुर्बलता प्रदर्शित करने के लिये, संसार का उद्धार करने के लिये। यह केवल उनकी लीला थी। उन्होंने दिखला दिया कि मनुष्य-शरीर में अवतारों तक को आसक्ति होती है किंतु उनकी आसक्ति वास्तविक आसक्ति नहीं थी। हाय! मेरा रोम रोम आसक्ति से भर गया। यदि परमात्मा मेरी रक्षा न करता तो अवश्य, निःसंदेह मेरी गति "कीट भृंग" की सी होती। मैंने हजारों बार—"भृंगी भय तें भृंग होत वह कीट महा जड़, कृष्ण प्रेम तें कृष्ण होन में कहा अचरज बड़" का लोगों को उपदेश दिया है किंतु यह शिक्षा औरों के लिये थी। मैं ही स्वयं फँसा और सो भी एक कुलटा के लिये। धिक्कार है मुझको, धिक्कार इस हरामजादी कुलटा को और फिटकार पापी, पाप में प्रवृत्त करनेवाले कामदेव को! खैर! होना था सो हुआ। अब? अब त्याग! बस त्याग के सिवाय और उपाय ही क्या?

इससे बढ़कर सजा ही क्या हो सकती है। बस प्रतिज्ञा करता हूँ, संकल्प करता हूँ। बस आज ही से......"

"हैं! हैं!! एक निरपराधिनी को इतना भारी दंड! खबरदार अब मुँह से जो एक बोल भी निकाला तो। जरा समझकर, सोचकर, निश्चय करके प्रतिज्ञा करो।"

"बस बस! मेरा हाथ छोड़ दो। मुझे रोको मत! देखो! यह रांड और वह रँडुवा, दोनों मुझे चिढ़ा रहे हैं। क्रोध तो ऐसा आता है कि अभी इनके टुकड़े टुकड़े कर डालूँ परंतु नर-हत्या के, नारी-हत्या के पाप से डरता हूँ।"

"छोड़ कैसे दें? हमारे सामने ऐसा अन्याय! हम कभी न होने देंगे। निरपराधों को हम कभी दंड न देने देंगे।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।

वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धा स्वयमेव संपदः॥"

"अपराधी कैसे नहीं है? यह रांड अवश्य अपराधिनी है। मैं इसका मुँह देखना नहीं चाहता!"

"तुम जिसे अपनी गृहिणी समझते हो वह प्रियंवदा नहीं, नसीरन रंडी है। सूरत शकल चाहे थोड़ी बहुत तुम्हारी घर-वाली से मिलती भी हो, शायद कुछ अंतर भी होगा। अच्छी तरह निश्चय करो। बिना विचारे काम करने से तुम्हें जन्म भर पछताना पड़ेगा क्योंकि मैं जानता हूँ कि प्राण जाने पर भी तुम अपनी प्रतिज्ञा टालनेवाले नहीं!"

"हैं! यह रंडी है? और मेरी घरवाली?"

' उसे हम आपको घर पहुँचवाकर अभी आ रहे हैं।''

''क्या सचमुच ? आप कौन हो ? आपने मुझ अभागे पर इतनी दया क्यों की ? यदि आप सच्चे हैं तो आपने हमें प्राण दान किया। आप देवता हैं ! मनुष्य नहीं !''

''देवता नहीं (कानों में अँगुलियाँ डालकर) राम राम ! काँटों में न घसीटो। मिथ्या प्रशंसा करके आकाश में न चढ़ाओ। मैं आदमी हूँ। एक दीन ब्राह्मण हूँ। यदि इस शरीर से किसी का कुछ उपकार हो जाय तो सौभाग्य ! काशी के गुंडों से दीन दुखियों की रक्षा करना, परमेश्वर शक्ति दे, यही व्रत है। रक्षक तो वही है। यदि हो तो निमित्त मात्र मैं भी हो सकता हूँ। जिस स्त्री के रोने की आवाज तुमने सुनी थी वह प्रियंवदा थी। तुम्हें बचाने में उसकी जान जाती समझकर पहले मैं उसके पास गया। बस इसी लिये तुम लुट गए। इधर तुम्हें एकाकी छोड़ देने से तुम्हारे प्राणों पर आ बनती। क्योंकि जब से तुमने नाव में उस साधु को मारा तब ही से गुंडे तुम्हारे पीछे लगे हुए हैं। परंतु घबड़ाओ नहीं अब तुम्हारा बाल भी बाँका न होगा।''

''महाराज कैसे विश्वास हो कि आप सच्चे हैं। मुझे यहाँ लाकर लूट लेने और फँसा जानेवाला भी ऐसा ही भला बनता था। मुझे तो यहाँ रस्सी रस्सी में सर्प दिखलाई देता है। आप भी उसकी तरह मुझे फँसाकर इस कुलटा की रक्षा करने के लिये प्रयत्न करते हो तो आश्चर्य क्या ?''

"बेशक तुम सच्चे हो। भ्रम होने में तुम्हारी भूल नहीं परंतु जब तुम अपने घर पहुँचकर अपनी प्यारी को सही सलामत पा लोगे तब तुम्हारा संदेह अपने आप मिट जायगा।"

"जब तक मेरा संदेह न मिट ले, आप उसे मेरी प्यारी न बतलाइए। मैं अभी तक उसे कुलटा समझे हुए हूँ।"

"अच्छा तुम्हें संदेह हो तो मैं तुम्हें घर पहुँचाने के पूर्व ही उसे मिटा सकता हूँ। अच्छा (उस रंडी की ओर देखकर) यहाँ आ री नसीरन! हरामजादी एक भले आदमी को धोखा देकर सताती है।"

"महाराज, जो कुछ मैंने किया उनके सिखाने से किया। वही इनकी घरवाली की सूरत शकल मुझसे मिलती हुई पाकर मुझे सजा गए और जाती बार मुझे बीस रुपए का नोट दे गए।"

"क्यों? इससे उनका क्या मतलब?"

"मतलब यही कि अगर इनको यकीन हो जाय कि इनकी औरत फायशा है तो यह उसका पीछा छोड़ दें। वही इनको यहाँ लाए हैं। शायद इनसे उनको कुछ रंज पहुँच चुका है।"

इसके अनंतर पंडित प्रियानाथ ने कितने ही गुप्त और प्रकट चिह्नों से, उसकी बोलचाल से निश्चय कर लिया कि यह प्रियंवदा नहीं नसीरन रंडी है। तब उनके जी में जी आया। तब वह हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर, पैर छूकर महात्मा से कहने लगे—

"महाराज, आपने बड़ा उपकार किया! आपको कोटि कोटि धन्यवाद! आप वास्तव में नर-रूपधारी देवता हैं।"

"नहीं नहीं! ऐसा न कहो! मैं कुछ नहीं। मैं एक तुच्छ जीव हूँ। परमेश्वर की अनंत सृष्टि में एक कीटानुकीट हूँ।"

"धन्य! परोपकार पर इतनी नम्रता! परंतु महात्मा, यह तो कहिए कि इसका रूप ऐसा क्योंकर बन गया?"

"काशी कारीगरी का घर है। यहाँ भला और बुरा सब मौजूद है। नाव में घूँसा खानेवाले साधु-रूपधारी नर-राक्षस ने किसी कारीगर को तुम्हारी गृहिणी दिखाकर इसमें और उसमें जो कुछ थोड़ा बहुत अंतर था उसे रोगन लगवाकर मिटवाया।"

"परंतु चेहरा कैसे मिल गया?"

"ईश्वर की इच्छा! होनहार! और अब अच्छी तरह निहारकर देखो। (नसीरन से) जरा अपने मुँह को धो डाल!"

"हाँ, यह धोया!"

"बेशक दिन रात का सा अंतर है! वास्तव में मुझे रस्सी में साँप का सा भ्रम हुआ। धुँधली रोशनी में, परछाहीं की आड़ में मैंने प्रियंवदा समझ लिया। और उस पुरुष से आलिंगन करते देखकर ही मैं क्रोध से आग हो गया। बस क्रोध के आवेश से मेरा सारा विवेक जाता रहा। परमेश्वर ने ही आपको भेजकर मुझे कुकर्म से बचाया।" इतना कहकर दोनों वहाँ से चल दिए।

प्रकरण—३६

प्रियंवदा का सतीत्व

तेंतीसवें प्रकरण के अंत में पंडित प्रियानाथ की प्राणप्यारी प्रियंवदा को माधवराव के घरहरे के निकट से जब चार लठैत गठरी बाँधकर ले गए तब अवश्य सूर्यनारायण के अस्ताचल के विश्रांतगृह में चले जाने से अँधेरे ने अपना डेरा-डंडा आ जमाया था और इसलिये उसकी ऐसी दशा देखने का किसी को अवसर ही न मिला, तब यदि उसकी रक्षा के लिये कोई न आ सका तो लोगों का दोष क्या? किंतु जो प्रियंवदा सतीत्व का इतना दम भरनेवाली थी, जिसका सिद्धांत ही यह था कि जब तक पति विद्यमान रहें तब तक जीवित रहना और मरते ही मर जाना, पति के सुख में अपना सुख और उनके दुःख में अपना दुःख, जिसके लिये पंडित प्रियानाथ कार्य में मंत्री, सेवा में दासी, भोजन में माता और शयन में रंभा की उपमा दिया करते थे, जो क्षमा में पृथ्वी और धर्म में तत्पर बतलाई जाती थी वह बाँधो जाते समय रोई चिल्लाई क्यों नहीं? परमेश्वर की कृपा से एक सती रमणी में अब तक भी इतनी शक्ति विद्यमान है कि यदि उसकी इच्छा न हो तो चार क्या चार सौ लठैत भी उसका बाल तक बाँका नहीं कर सकते फिर चुपचाप उसने अपनी गठरी क्यों बँधवा ली?

क्या उसकी भी मिली भगत थी जिससे उसने चूँ तक न की! किंतु नहीं! प्रियंवदा के विषय में ऐसी राय देनेवाले झाँड खाते हैं। एक सती को कुलटा कहकर कलंकित करना सूर्य पर धूल फेंकना है। ऐसे यदि उसने चुप्पी साध जाने के सिवाय कुछ भी नहीं किया तो उसका दोष नहीं। चार लठैतों की सूरत देखते ही वह भय के मारे थरथराने लगी थी और उनमें से एक ने उसकी नाक में बेहोशी मल दी थी और सो भी थोड़ी सी नहीं! इतनी मली थी कि उसे बाँधकर ले जाने के अनंतर रात भर चेत न हुआ।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब उसकी मूर्छा नष्ट हुई, वह एक साफ सुथरे पलंग पर लेटी हुई थी। आँखों पर गुलाब-जल छिड़ककर, शर्बत बेद मुश्क पिलाकर, पंखा झलकर उसे आराम देने के लिये चार दासियाँ खड़ी थीं। उसका गोरा गोल गुलाबी चेहरा, हिरन के बच्चे की सी उसकी आँखें, उसकी नागिन सी अलकें और उसकी भरी जवानी को निरखकर जिन साहब के मुँह में पानी भर आया था वह एक आराम कुर्सी पर बैठे हुए कभी प्रियंवदा को बढ़िया से बढ़िया शर्बत पिलाने के लिये दासी से ताकीद करते थे, कभी पंखा झलनेवाली को झिड़ककर आप ही उसके हवा करने लगते थे और कभी रात भर उपचार करने पर भी उसकी मूर्छा दूर न होती देखकर अपने नौकरों को और विशेष कर उन आदमियों को गालियाँ दे देकर कोसते थे जिन्होंने एक

फूल सी कोमल रमणी को अनाप सनाप बेहोशी सुँघाकर उसकी रात का मजा मिट्टी में मिला दिया था। उनका एक एक मिनट एक एक युग के समान व्यतीत होता था। वह बेताबी के मारे कभी घबड़ाकर "यदि इसे होश न आया तो हाय! मैं क्या करूँगा? धोबी का कुत्ता घर का रहा न घाट का, जूँठा भी खाया और पेट भी न भरा।" कहते हुए ठंढी साँस लेते और इस अवसर में यदि प्रियंवदा ने करवट बदलते हुए मूर्छा ही मूर्छा में कह दिया कि "हाय मैं मरी! अजी मुझे बचाओ।" तो अपने मन को ढाढ़स देते हुए यह कहने से नहीं चूकते थे कि "नहीं जान साहब! मैं आपको मरने कभी न दूँगा। आपके लिये मेरा और तो और सिर तक हाजिर है।" और इतना कहकर उसके उभरे हुए कपोलों पर मुहर लगाने के लिये मुँह भी फैलाते थे किंतु फिर न मालूम किस विचार से हट बैठते थे।

अस्तु! जब उसे अच्छी तरह होश आ गया तब वह एका-एक चौंककर बोली—"हैं! मैं कहाँ हूँ? मेरे प्राणनाथ कहाँ गए? यहाँ मुझे कौन राक्षस किसलिये ले आया?"

"राक्षस नहीं! तुम्हारा दास! प्यारी के चरणों का चाकर! तुझ जैसी इंद्र की अप्सरा से मजे उड़ाने के लिये! उसी की हवेली के तहखाने में। प्यारी! एक बार नजर भर मुझे देख ले, मेरा कलेजा ठंढा कर दे! मैं विरह की आग से जला जाता हूँ!"

"जला जाता है तो (मुँह फेरकर) जा भाड़ में पड़! खबरदार मुझसे प्यारी कहा तो! मैं जिसकी एक बार प्यारी बन चुकी उसी की जन्म भर दासी रहूँगी! मुझे नहीं चाहिए तेरे मौज और मजे! तुझे झख मारना हो तो और किसी कुलटा को टटोल! मुझसे एक जन्म में तो क्या तीन जन्म में भी आशा छोड़ दे!"

"अरी बावली! यों क्या बकती है? जरा समझकर बात कर। आदमी तो आदमी तुझे अब ब्रह्मा भी नहीं छुड़ा सकता, तू मेरी कैद में है! उस बिचारे तक तो तेरी हवा भी नहीं पहुँच सकती। सीधी अँगुलियों घी न निकलेगा तो फिर मुझे जोर दिखलाना पड़ेगा। तू जिसके लिये मरी मिटती है वही यमराज की दाढ़ में पहुँच चुका!"

"झूठ है (कुछ सोचकर) सरासर झूठ है! कभी ऐसा हो ही नहीं सकता! मुझे भगवान् का, अपने अहिवात का, अपनी (चूड़ियाँ निरखकर) चार चूड़ियों का भरोसा है कि उनका बाल भी बाँका नहीं होगा! और तेरी क्या मजाल जो मेरे हाथ भी लगा सके! जिसने जगज्जननी जानकी को राक्षसराज रावण के पंजे से बचाया, जो वस्त्र बनकर द्रौपदी की लाज बचानेवाला है और जिसने गरुड़ छोड़कर नंगे पैरों भागकर गजराज को उबारा वही गोविंद प्रत्येक सती का सतीत्व बचाने के लिये तैयार है।"

"वह जमाना गया ! अब वैसी सतियाँ जमीन के पर्दे पर कहीं नहीं और न वह गोविंद ही रहा ! तू कहाँ भूली है ? छोड़ इन झगड़ों का। और दुनिया के मजे लूट। और तू तो बता ! तू सती कब से बनी ? तेरे सब गुण मेरे पेट में हैं ! वृथा डींगें न हाँक ! छोड़ इन झूठे झगड़ों को और जन्म भर मेरी बनकर आनंद कर ! यह अटूट खजाना, यह विशाल भवन और यह अप्रतिम वैभव, सब तेरे ही लिये है। केवल तेरी मृदु मुस्कान पर न्योछावर है।"

"अपनी न्योछावर को फूँक दे ! आग लगा अपने भोग विलास को ! मैं कुलटा हूँ तो अपने मालिक की हूँ और सती हूँ तो उसकी ! तुझे क्या ? तू हजार सिर मारने पर भी, जान दे देने पर भी मुझे नहीं पा सकेगा ! मुझे पाने के लिये काच में, नहीं नहीं मेरी जूती में मुँह देख ले।"

"अच्छा देख लूँगा ! देखूँ कहाँ तक तेरा सत निबहता है ? तू झख मारेगी और मेरी होकर रहेगी। तू मेरी कैदी है। मेरी बनकर रहने के सिवाय तेरे लिये कुछ चारा ही नहीं। मान जा ! प्यारी मान जा ! तेरे पैरों पड़ता हूँ मान जा ! न मानेगी, यों सीधी सीधी न मानेगी तो मैं जबर्दस्ती मनवा लूँगा !"

"तैंने मेरे हाथ भी लगा दिया तो उसी समय मर मिटूँगी ! मरना मेरे हाथ में है।"

"मरे मत ! ऐसी गोरी गोरी प्यारी को मैं मरने थोड़े ही दूँगा ! अच्छा ! अभी मैं जाता हूँ। आज के दिन भर की मुहलत है। बस रात को वारे न्यारे !" इतना कहता हुआ वह व्यक्ति उन चारों दासियों को खूब ताकीद करके उनका कड़ा पहरा रखता हुआ, कहीं उनके पहरे में से भाग न जाय इसलिये प्रियंवदा के पैरों में हलकी हलकी बेड़िया डालकर वहाँ से गया और जाते जाते उससे इतना अवश्य सुन गया कि—"बेड़ियाँ क्या तू यदि मुझे जान से मार डाले, मेरे टुकड़े टुकड़े कर डाले तब भी मैं तेरी न बनूँगी।"

इस तरह उसने एक ही बार समझाया हो, एक ही बार डराया हो सो नहीं। वह नित्य आता है, नित्य ही खुशामद करता है, रोज ही लालच देता है और बार बार डर दिखाता है किंतु प्रियंवदा टस् से मस् नहीं। जो उसने एक बार कह दिया वह लोहे की लकीर। अब जब वह आता है तब ही वह उसकी ओर से मुँह फेर लेती है। उसके हजार सवालों का एक "नहीं" के सिवाय जवाब नहीं। वह सब तरह कर हारा परंतु प्रियंवदा का वज्र हृदय बिलकुल नहीं पसीजा, तब उसने बलात्कार के सिवाय कोई उपाय ही न देखा! उसने हजार चाहा कि इसे नशा देकर अपना काम निकाल लूँ किंतु बेहोशी के समय के बाद जब उसने एक दाना मुँह में न डाला, एक घूँट पानी तक का वास्ता नहीं तब नशे का ठिकाना कहाँ! भूखों के मारे, प्यास के मारे

उसकी जान निकली जाती है; पेट सूखकर आँतें पीठ से जा चिपटी हैं। आँखें बैठ गईं और गाल पिचक गए हैं परंतु ऐसे पामर का, उसकी नौकरनियों का भरोसा ही क्या ?

कुछ भी हो आज वह साम, दाम, दंड और भेद से—जैसे बने तैसे प्रियंवदा को अपने गले लगाने के पक्के इरादे से आया था। आज उसने ठान लिया था कि "यदि प्रियंवदा स्वीकार न करेगी तो या तो आज वह नहीं या मैं नहीं।" किंतु उसके समस्त उद्योग, सब हिकमतें, सारी चालबाजियाँ वृथा गईं। उसके सब प्रयत्नों पर पानी फिर गया और ऐसे जब वह सब तरह निराश हो गया तब उसने, क्या उसकी बेताबी ने प्रियंवदा को हृदय से लगाकर अपना कलेजा ठंढा करने के लिये हाथ बढ़ाए। जिस समय उसने हाथ फैलाए प्रियंवदा ऐसी जगह में घिर गई थी कि उसका कालपाश में से निकल जाना असंभव था। बस एक ही मिनट में उसके पातिव्रत के नष्ट हो जाने में संदेह न था। वह पहले खूब रोई, चिल्लाई और तब बस ऐसे समय उसने विपत्ति-विदारण भक्तवत्सल परमात्मा को याद किया। वह बोली—

राग सारंग— 'अब कुछ नाहीं नाथ रह्यो।

सकल सभा में बैठि दुशासन अंबर आनि गह्यो॥
हारयो सब भंडार भूमि अरु अब बनबास लह्यो।
एकौ चीर हुतो मेरे पर सो इन हरन चह्यो॥

हा जगदीश ! राख यहि अवसर प्रगट पुकारि कह्यो ।
सूरदास उमगे दोउ नैना बसन प्रवाह बह्यो ॥

राग बिलावल—जैती लाज गोपालहिं मेरी ।
तैती नाहिं वधू हौं जिनकी अंबर हरत सबन तन हेरी ॥
पति अति रोष मारि मन महियाँ भीषम दई वेद विधि टेरी ।
हा जगदीश ! द्वारका स्वामी भई अनाथ कहत हौं टेरी ॥
बसन प्रवाह बढ्यो जब जान्यो साधु साधु सबहिन मति फेरी ।
सूरदास स्वामी यश प्रगट्यो जानी जन्म जन्म की चेरी ॥

राग धनाश्री—"निबाहो बाँह गहे की लाज ।
द्रुपदसुता भाषत नँदनंदन कठिन भई है आज ॥
भीषम कर्ण द्रोण दुर्योधन बैठे सभा विराज ।
तिहिं देखत मेरो पट काढ़त लीक लगी तुम काज ॥
खंभ फारि हिरनाकुश मार्यो ध्रुव नृप धर्यो निवाज ।
जनकसुता हित हत्यो लंकपति बाँध्यो सादर गाज ॥
गद्गद सुर आतुर तनु पुलकित नैननि नीर समाज ।
दुखित द्रौपदी जानि प्राणपति आए खगपति त्याज ॥
पूरे चीर बहुरि तनु कृष्णा ताके भरे जहाज ।
काढ़ि काढ़ि थाक्यो दुःशासन हाथनि उपजी खाज ॥
बिकल अमान कह्यौ कौरवपति पार्यो सिर को ताज ।
सूर प्रभू यह रीति सदा ही भक्त हेतु महाराज ॥"

इस तरह सूरदासजी के पद गा गाकर ज्योंही वह प्रार्थना करने लगी, न मालुम कहाँ से आठ दस लठैतों ने आकर

उस आदमी की मुश्कें कस लीं। कसने के अनंतर लात और घूँसों से उसकी खूब ही खबर ली। ऐसे जब प्रियंवदा की ऐन समय में लाज बच गई तब उसने उन लठैतों को जो लेकर आए थे उन्हें धन्यवाद दिया। उन चारों चेरियों में से श्यामा जो औरों से छिप छिपकर उन लोगों के पास खबर पहुँचाने का काम करती थी, छिप छिपकर प्रियंवदा के लिये खाना ला देती थी और गाढ़ी भीड़ के समय लाज बचाने के लिये जिसने खंजर ला दिया था उसे भरपूर इनाम दिया गया।

प्रकरण—३७

दुरंहू का प्रपंच

"विपति बराबर सुख नहीं, जो थोड़े दिन होय।"

वास्तव में दुःख अंतःकरण का रेचन है। दस्तावर दवा पीने से जैसे पेट के यावत् विकार निकल जाते हैं वैसे ही आपदा अंतःकरण का मल धोने के लिये रामबाण है। सोना ज्यों ज्यों अधिक तपाया जाता है त्यों ही त्यों उसका मूल्य बढ़ता है। खान से निकलने पर हीरा जो कौड़ियों के मोल बिकता है वही खराद पर चढ़कर लाखों पा लेता है। जब तक आदमी धूप में न जाय उसे छाया के सुख का अनुभव नहीं होता और इसी तरह यदि संसार में वियोग की विपत्ति न हो तो संयोग के सुख को कौन पूछे ? एक महीना और कुछ दिन वियोग-महासागर में गोते खाकर, घोर संकट सहने के अनंतर आज पंडित प्रियानाथ और उनकी प्यारी प्रियंवदा संयोग-सुख का अनुभव करने लगे हैं। वास्तव में यह सुख अलौकिक है। इसकी तुलना नहीं, समता नहीं। यद्यपि दोनों का प्रेम स्वाभाविक था, दर्पण की तरह निर्मल था किंतु अब हीरे की नाईं शुद्ध हो गया। यावत् विकारों का समूल नाश होकर वह निखर गया। नसीरन के धोखे में आकर दुष्टों का चकमा खाकर उनके मन में जो भ्रम पैदा हुआ था उसके

लिये पंडित जी बहुत पछताए, पत्नी के आगे प्रसंग आने पर लज्जित हुए।

आज दोनों एकांत में बैठकर अपनी अपनी "आप बीती" सुना चुके हैं। दोनों ही भगवान् को धन्यवाद देते हैं और दोनों ही पंडित दीनबंधु की प्रशंसा करते हैं। माता पिता अपने बालकों के नाम अपनी समझ के अनुसार बढ़िया से बढ़िया तलाश करके रखते हैं किंतु इस दीनबंधु के समान उनमें "यथा नाम तथा गुण" बिरले हैं! अनेक वीर और बहादुर दुम दबाते फिरते हैं, असंख्य हरिश्चंद्र टके के लिये अपनी प्रतिज्ञा को पैरों में कुचलते देखे गए हैं, अनेक दीनानाथ दीनों का दरिद्र दूर करने की जगह दीनों का दलन करनेवाले हैं। जिनका नाम दयालु वे घोर अत्याचारी और जो सत्यवादी नाम धारण करते हैं वे मिथ्याप्रलापी। किंतु पंडित दीनबंधु वास्तव में दीनों के बंधु, सहायहीनों के सहायक निकले। उन्होंने एक बार नहीं सैकड़ों बार अपनी दीनदयालुता का परिचय दिया। यदि वह न होते तो आज दंपति को सुख से संभाषण करने का सौभाग्य ही प्राप्त न होता। वह जिसके लिये बीड़ा उठाते उसी को उबारकर दम लेते, उसकी रक्षा करने के लिये अपनी जान झोंक डालते और प्रत्युपकार के नाम पर उससे एक पाई न लेते, उलटे उसके कनौड़े रहते—यही उनका व्रत था। वह यों जैसे प्रजा के प्यारे थे वैसे सरकार के भी कृपाभाजन थे, विश्वासपात्र थे, क्योंकि उनके जितने कार्य थे वे सब

राजा-प्रजा का समान हित साधने के लिये, सरकारी आईन के अनुसार और धर्म के अनुकूल होते थे।

आज इन दोनों की लज्जा बचाकर, प्राण-रक्षा कर उन्हें परम सुख है। दोनों को घर पहुँचाकर शरीर-कृत्य से निवृत्त होने के अनंतर स्नान संध्या से छुट्टी पाकर आगे को जब तक यह जोड़ी काशी में निवास करे इनको कोई सताने न पावे, इसका पक्का प्रबंध करके इनका कुशल-क्षेम पूछने के लिये वे यहाँ आए हैं। यद्यपि इनकी वय पंडितजी से दस पाँच वर्ष अधिक होगी किंतु वह उन्हें पितृतुल्य मानते हैं। और मानने में अहसान ही क्या है? उन्होंने इनका उपकार ही ऐसा किया है कि जिससे कभी उऋण नहीं हो सकते। पंडित पंडितायिन स्वयं स्वीकार करते हैं कि "हम यदि अपनी खाल का जूता बनाकर भी पहनावें तो उनसे उऋण नहीं हो सकते।" अभी उनके आते ही प्रियानाथजी ने दीनबंधु का अभ्युत्थान, अभिवादन, अर्घ्य, पाद्य और मधुपर्कादि से प्राचीन प्रथा के अनुसार सत्कार करके उनके विराजने को ऊँचा आसन दिया है, महात्मा के दर्शन करने की लालसा से गौड़बोले, बुढ़िया, गोपीवल्लभ सब ही वहाँ आ आकर प्रणाम कर करके यथास्थान बैठ गए हैं। सबके जमा हो जाने पर पंडित प्रियानाथ समित्पाणि होकर बड़ी नम्रता के साथ इस तरह प्रार्थी हुए—

"पिताजी, भगवान् ने बड़ी अनुकंपा की। आप यदि हमारी रक्षा न करते तो दीन दुनिया में हमारा कहीं ठिकाना

न लगता। सचमुच आपने हमको विपत्ति के दारुण दावानल में से, जैसे प्रह्लाद भक्त को भगवान् नृसिंह ने बचाया था, वैसे ही उबार लिया। हम आपकी कहाँ लों प्रशंसा करें। आपने भय से, घोर कष्ट से हमारी रक्षा की।

"अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातस्तथैव च।
विद्यादाता मंत्रदाता पंचैते पितरः स्मृतः॥

आप जब हमारे पिता हैं तब आपका धन्यवाद ही क्या है?"

इस कथन का गौड़बोले ने अनुमोदन किया, घूँघट की ओट में संकेत से प्रियंवदा ने कृतज्ञता प्रकाशित की, बूढ़े बुढ़िया ने "हाँ सच है! बेशक सच है!" कहा और गोपीवल्लभ से जब कुछ कहते न बना तब लपककर उसने उनके पैरों में सिर जा दिया। उसका सब ही ने एक एक करके अनुकरण किया। पंडित दीनबंधु यद्यपि सबके इस काम से लज्जित हुए, उन्होंने अपने पैर छिपाने में, उन्हें हटाने में कमी नहीं की किंतु कोई भी ऐसे महात्मा के चरण स्पर्श का पुण्य लूटने से वंचित न रहा। इस तरह पर लूटालूट समाप्त होने पर पंडित दीनबंधु बोले—

"आप लोगों ने आज मेरा असाधारण आदर किया। भगवान् भूतभावन से वरदान पाकर भस्मासुर के समान जगज्जननी अंबिका को छीन लेने की पापवासना से अपने उपकारक, इष्टदेव के मस्तक पर हाथ फेरनेवाले सैकड़ों हैं किंतु

आजकल आपके समान उपकारबिंदु को उपकार-महासागर माननेवाले बिरले हैं। भस्मासुर की क्या कथा कहूँ। मुझे ही इस लघु जीवन में ऐसे ऐसे अनेक भस्मासुरों से पाला पड़ चुका है किंतु दुष्ट यदि अपनी दुष्टता से न चूके तो न चूके, उसका स्वभाव है, सज्जनों को अपना सौजन्य क्यों छोड़ना चाहिए? मैं अपना अनुभव क्या कहूँ? पंडितजी आप ही सोच लो। आपने एक समय विपत्ति से जिस व्यक्ति को बचाया था वही आपकी स्त्री, माता के समान नारी को भ्रष्ट करने और आपको सताने पर उतारू हो गया।. इससे बढ़कर क्या कृतघ्नता होगी? कृतघ्नता से बढ़कर संसार में कोई दुष्कर्म नहीं!"

"हैं! मैंने किसी का उपकार किया? उपकार यद्यपि कर्त्तव्य है किंतु मुझे याद नहीं आता कि इस जीवन में कभी मुझ से किसी का उपकार बन पड़ा हो। महाराज तेली के बैल की तरह यह जीवन व्यर्थ ही व्यतीत हो रहा है। पिताजी, पहेली न बुझाओ। स्पष्ट कहो कि मैंने किसका उपकार किया?"

"वास्तव में सज्जनता इसी में है। जो सज्जन हैं वे करते तो हैं किंतु प्रकाशित नहीं होने देते। अच्छा आप नहीं कहते हैं तो मैं ही बतलाए देता हूँ। आप दंपती ने किसी बार दौरे के समय कहीं, किसी व्यक्ति को मरते मरते बचाया था? रेल में यात्रा करते समय तीसरे दर्जे की गाड़ी में कभी आपको कोई प्लेग-पीड़ित मिला था? डाक्टर लोग उसे पकड़कर जब अस्पताल में पहुँचाने लगे तब आप दंपती अपना

आवश्यक काम छोड़कर, नौकरी बिगड़ने की रंचक पर्वाह न करके किसी के साथ हो लिए थे ? याद करो ! आपने उसके निकट रहकर उसका इलाज करवाया। इस बहिन ने उसके मरहम पट्टी की, उसे पथ्य करके खिलाया और उसके मल मूत्र को साफ किया। गाड़ी में उसे मूर्च्छित देखकर दूसरे मुसाफिर उसके पास से रुपया पैसा निकाल ही चुके थे। उसके पास जब एक फूटी कौड़ी भी आपने न पाई तब उसके इलाज में, उसके खान पान में और टिकट दिलाकर उसे यहाँ तक पहुँचा देने में आपही ने खर्च किया। बस यह वही व्यक्ति है जो नाव में आपका घूँसा खाकर आप पर बिगड़ खड़ा हुआ, आपकी सती, साध्वी, पतिव्रता पत्नी पर जिसने मन बिगाड़ा। पहचान लो। अच्छी तरह याद कर लो !"

"हाँ महाराज याद आ गया। बेशक वही है। उस समय उसकी लंबी दाढ़ी से नहीं पहचाना था किंतु अब स्मरण हो आया। वही है। परंतु आप मनुष्य नहीं देवता हैं। आपको कैसे विदित हो गया कि यह वही व्यक्ति है ?"

"विदित न हो जाय ? मैं वेतनभोगी सरकारी गुप्तचर नहीं, डिटेक्टिव नहीं, किंतु ऐसे नरपिशाचों का आमालनामा मेरी डायरी में है। वह रहनेवाला काशी ही का है। मेरे पुराने पड़ोसी का लड़का है। लाखों रुपए की सम्पत्ति उसने ऐसे ही ऐसे कुकर्मों में उड़ा दी। अब जो कुछ उसके पास है अथवा इधर उधर से लूट खसोटकर लाता है उसे इस तरह के

कामों में उड़ाया करता है। हाँ इतना ही नहीं! आपके देश में संन्यासी बनकर थोड़े से जेवर के लालच से वह एक भले आदमी के बालक को मार आया है। इसलिये उसकी गिरफ़ारी का वारंट है। वह एक बार प्रयागराज में गंगा के उस किनारे पकड़ा भी गया। परंतु सिपाहियों को धोखा देकर भाग आया। तब से यहीं है। शायद उससे आप लोगों की एक बार रेल में और फिर प्रयाग के स्टेशन पर भेंट भी हो चुकी है।"

"परंतु पिताजी, आपको यह सारा हाल क्योंकर मालूम हुआ?"

"वह उसी नसीरन रंडी पर मरा मिटता है। जब शराब पीकर उसके साथ मजे में आ जाता है तब अपनी शेखी बघा-रते बघारते सब कुछ कह जाता है। मेरी उस पर कई वर्षों से नजर है इसलिये मैंने किसी तरह उस रंडी को अपने काबू में ले रखा है। बस इस कारण वह मेरे पास आकर सारा हाल कह जाती है। एक बात उसने आपकी गृहिणी के विषय में और भी कही थी किंतु वह, सत्य हो अथवा मिथ्या हो, लज्जाजनक है इसलिये मैं कहना नहीं चाहता।"

इतना सुनते ही प्रियंवदा पसीने में सराबोर हो गई। वह लाज के मारे मरने लगी। उसकी आँखों में से आँसू बहकर अँगिया भिगोने लगे और उस समय उसका शरीर ऐसा ठंढा पड़ गया कि काटो तो खून नहीं। इस भाव को प्रियानाथ ने समझा, दीनबंधु ने भी कुछ अटकल लगाई हो तो कुछ

आश्चर्य नहीं किंतु और किसी ने कुछ भी न जाना कि मामला क्या है ? पति ने पत्नी को आँखों ही आँखों में समझा दिया। और तब प्रियानाथ दीनबंधु से कहने लगे—

"हाँ! मैं इस घटना को जानता हूँ। आपने भी इसका भेद पा ही लिया होगा। अभी कहने की आवश्यकता नहीं। मैं स्वयं कभी अवसर मिला तो आपका संदेह निवृत्त कर दूँगा। परंतु महाराज मुझे एक संदेह बड़ा भारी है। आप क्योंकर मेरे उद्धार को तैयार हुए ? और कटी हुई अँगुली किसकी थी ?"

"इसका यश इस बूढ़े बाबा को देना चाहिए। गंगा-तट पर जिस समय मैं संध्या वंदन से निवृत्त हुआ इसी ने आपका सारा हाल कहा। इससे पता पाकर मैं अपने कर्तव्य-पालन के लिये तैयार हुआ। रहा सहा भेद मैंने बुद्धू बाबू की श्यामा नौकरानी से जाना। उसे ही फोड़कर मैंने प्रियंवदा के पास खंजर और खान पान पहुँचाया। बस इससे आगे आप सब कुछ जान ही चुके हैं।"

इस पर पंडितजी ने भगवानदास को धन्यवाद दिया। पंडितायिन ने बुढ़िया के कान में कहकर उनका अहसान माना और तब प्रियानाथ ने फिर पूछा—

"और महाराज, मेरे सामने (जेब में से पोटली निकालते हुए) इसे फेंकनेवाला कौन था ? और उन दोनों रमणियों को यह बात किस तरह मालूम हुई ?" इतना कहते कहते

उन्होंने पोटली खोलकर सबको दिखलाई। उसमें कोई ऐयारी की दवा नहीं थी। उसमें .खून से भरी हुई एक अँगुली थी और एक अँगूठी रक्त में भरावोर उस अँगुली में पहना रखी थी। इससे स्पष्ट हो गया कि पंडितजी ने अँगूठी को पहचानकर प्रियंवदा का मारा जाना और तब उसकी अँगुली काट लेना मान लिया था। बस यही कारण उस समय उनके मूर्छित होने का था। किंतु इस समय दिन में जब अच्छी तरह आँखें फाड़कर देखा गया तो न तो वह अँगुली अँगुली ही निकली और न वह रक्त रक्त ही। अँगुली मोम की बनी हुई थी और लहू की जगह लाल रंग। तब प्रियानाथ फिर कहने लगे--

"हा तो वे दोनों रमणियाँ ?"

"उसी मुहल्ले में घुरहू का मकान है। श्यामा उसी मकान में रहती है जिसमें उन दोनों में की एक रहती है। उसी से उन्होंने भेद पाया होगा।"

"तब घुरहू ने प्रियंवदा को ढाल की मेंडा में क्यों रखा और जो आदमी मुझे धोखा देकर रंडी के यहाँ पहुँचा देने में था उसने क्या दो शरीर धारण कर लिए थे ? एक से मेरे साथ और दूसरे से (प्रियंवदा की ओर इंगित करके) इसे सताने में रहा ?"

"नहीं यह आपका भ्रम है। नसीरन की गलती है। प्रियंवदा के रोने की भनक जब आपके कानों पर पड़ी तब वह घुरहू उसके पास मौजूद था। आपको बहका ले आनेवाला

घुरहू नहीं उसका मित्र कलवारू था। कलवारू था इसी लिये आपके प्राण बच गए क्योंकि वह धन का लोभी था आपके प्राण का नहीं। घुरहू होता तो आपकी जान लिए बिना नहीं छोड़ता। वह आपका जानी दुश्मन बन गया है। आपने उसके घूँसा क्या मारा साँप के पिटारे में हाथ दे दिया।"

"तो महाशय अब? अब उससे कैसे रक्षा होगी? भय के मारे बड़ी घबड़ाहट है। महाराज बचाइए। हे भगवन् इस दीन ब्राह्मण की रक्षा करो।"

इस पर दीनबंधुजी ने प्रियानाथ को बहुत ढाढ़स दिलाया। दंपती की रक्षा करने का जो जो प्रबंध उन्होंने कर रखा था, वह उन्हें समझाया। "नारायण कवच" और "राम-रक्षा" के यथावकाश पाठ करते रहने का अनुरोध किया और अष्टगंध से भोजपत्र पर सूर्यग्रहण में लिखे हुए चाँदी से मढ़े दो दो तावीज दंपती के गले में पहना दिए। दंपती पंडितजी की ऐसी उदारता से, ऐसे अनुग्रह से और ऐसे उपकार से बहुत कृतज्ञ हुए और दोनों ने दीनबंधु के चरणों में मस्तक रख दिया। उन्होंने पंडितजी को छाती से लगा लिया। पंडितायिन के सिर पर हाथ फेरकर "अखंड सौभाग्यवती, पुत्रवती भव" का आशीर्वाद दिया और जब प्रियानाथ दीन-बंधु के चरणों में एक हजार रुपए का नोट रखने लगे तब उनके हाथ में से ले, अपने मस्तक पर चढ़ा प्रियानाथ की जेब में डालते हुए दीनबंधु बोले—

"मुझे इसकी आवश्यकता नहीं। भगवान् जैसे तैसे मेरा योगक्षेम चला रहा है—

"अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥"

"हां यह सत्य है। परमेश्वर ही विश्वंभर है किंतु इस अकिंचन पुत्र का कर्तव्य है कि आप जैसे पिता, ऋषितुल्य महात्मा की सेवा करे। इसी के लिये यह पत्र पुष्प है।"

"यह आपका अनुग्रह है, उदारता है किंतु मैं अपनी वृत्ति के अतिरिक्त ऐसे कामों में एक पाई भी किसी से नहीं लेता। मुझे इस बात की शपथ है।"

"तब आपकी वृत्ति?"

"मेरी वृत्ति! मैं क्या कहूँ? बड़ी निकृष्ट वृत्ति है। भिक्षा-वृत्ति से अधम आजकल कोई नहीं। आपका तीर्थ गुरु जिसने आपको श्राद्ध कराया था मेरा मा-जाया भाई है। वह मुझे पिता की तरह गिनकर मेरी सेवा करता है। उससे घर का निर्वाह होता है, खान पान चलता है और ऐसे कामों में जो खर्च होता है उसे मैं स्वयं कमाता हूँ। मैं जरी का काम अच्छा जानता हूँ। इसी से दो तीन रुपए रोज मिल जाते हैं।"

"धन्य महाराज! आपको करोड़ बार धन्य!! आप जैसे आप ही हैं।"

बस इस तरह की बातचीत हो चुकने पर दीनबंधु वहाँ से बिदा हुए।

प्रकरण—२८

भक्ति की प्रतिमूर्ति

विपत्ति के समय भी गंगा-स्नान, संध्या-वंदनादि नित्यकर्म और विश्वनाथ के दर्शन पंडित प्रियानाथ ने नहीं छोड़े थे। विकलता के मारे, अवकाश न मिलने से अथवा आत्मग्लानि ने उनकी रुचि ही यदि भोजन से उचाट दी, यदि दो दो दिन के लंघन ही हो गए तो हो गए किंतु आह्निक न छूटना चाहिए। प्रारब्ध की बात जाने दीजिए। जैसे सरकार का ऊँचे से ऊँचा पद पाने के लिये आजकल जटिल से जटिल परीक्षा पास करने का तप करके दिन रात एक कर डालना पड़ता है वैसे ही ब्राह्मण शरीर धारण करके एक नहीं, अनेक विपत्तियाँ उसके लिये कसौटी हैं, परीक्षालय हैं। इस आपत्ति ने पंडित पंडितायिन की खूब परीक्षा कर ली। नंबर भी अच्छे आए। अब पाठकों को अधिकार है कि उन्हें पहले, दूसरे अथवा तीसरे दर्जे (डिविजन) में से किसी में पास समझें। पंडित दीनबंधु की सहायता से अब इन दोनों को, इनके साथियों को काशी में सुख से विचरने का अवकाश मिला है। यहाँ रहते रहते बहुत दिन बीत गए। अभी गया और पुरी की यात्रा शेष है। नौकरी पेशे के लिये छुट्टी का भूत भी सदा तैयार रहता है। साल भर तक ताँगे के टट्टू की तरह

दिन रात की जी तोड़ मेहनत का घोर तप करने के बाद सब प्रकार के झगड़ों से बचकर केवल हाकिम के अनुग्रह से यदि महीने दो महीने का अवकाश मिला हो तो वह केवल थकावट मेटने में, सुस्ती ही में, बातों ही बातों में निकल जाता है। अवधि से एक दिन भी देरी हुई तो दाना पानी बंद। बस वही ताँगे के टट्टू की तरह कान पकड़कर जोत दिए जाते हैं। पंडित प्रियानाथ साधारण क्लर्क नहीं थे, ऊँचे ओहदेदार थे। इन्हें साधारण कर्मचारियों की तरह अपनी नौकरी में चाहे बीस सेर दाना न दलना पड़े किंतु पाँच सेर मैदा अवश्य पीसना चाहिए। मैदा भी ऐसा वैसा नहीं। यदि आँख में डालो तो खटके नहीं। बारीक से बारीक चलनी से छानने पर जितना ही कम चोकर निकले उतनी तारीफ। उधर काम की चक्की में पिसते पिसते यात्रा में आए और इधर ऐसे ऐसे कष्ट। कोई दुबला पतला आदमी हो तो घबड़ा उठे। परंतु कर्तव्यदक्ष प्रियानाथ ने अपनी यात्रा सांगोपांग संपूर्ण करने के लिये फिर छुट्टी ली।

अस्तु। इस तरह की बातें बढ़ाकर इस किस्से को तूल देने से कुछ प्रयोजन नहीं। लेखक लिखने का परिश्रम भी करे और काम पसंद न आने पर पाठकों की गालियाँ भी खाय। इससे फायदा क्या? अब पंडितजी के लिये काशी-निवास के दिनों में दो तीन काम शेष रह गए हैं। काशी में रहकर अपने साधारण नित्यकर्म के अतिरिक्त इन्होंने जो

कर्तव्य स्थिर किया था उसे प्रिय पाठक गत प्रकरणों में पा चुके हैं। शेष आगामी पृष्ठों में पा लेंगे। आज से उनकी यात्रा में, केवल काशी ही में एक और साथी बढ़ गया। इस यात्रा-पार्टी में पंडित दीनबंधु भी संयुक्त हुए।

लोग कहते हैं कि काशी शिवपुरी है। वास्तव में शिवजी की ही प्रधानता है परंतु मेरी समझ में काशी शिवपुरी है, विष्णुपुरी है, दुर्गापुरी है, लक्ष्मीपुरी है और गणेशपुरी, भैरवपुरी है। जैसा जो अधिकारी है उसके लिये भला और बुरा सब तरह का मसाला मौजूद है। वहाँ यदि शैवों की संख्या अधिक है तो वैष्णवों की भी कम नहीं। यदि गणना करने का कोई सिलसिला हो तो मेरी समझ में समान अथवा लगभग ही निकलेगी। भगवान् शंकर ही जब वहाँ साक्षात् निवास करते हैं तब यदि काशी शिवपुरी हो तो आश्चर्य क्या, किंतु विष्णु स्वामी संप्रदाय के प्रवर्तक भगवान् वल्लभाचार्यजी ने जब वहाँ ही से गोलोक को प्रयाण किया है, जब वहाँ ही श्रीगोपाललालजी का, श्री मुकुंदरायजी का और ऐसे कई एक मंदिर विद्यमान हैं तब वैष्णवों के लिये वास्तव में विष्णुपुरी है। यों तो भगवान् की सबही मूर्तियाँ वैष्णवों के लिये इष्ट हैं किंतु जब श्रीमुकुंदरायजी नाथद्वारे में विराजमान श्रीगोवर्द्धननाथजी के गोद के ठाकुर हैं तब उन पर लोगों की विशेष रुचि होनी चाहिए। शिव विष्णु की एकता के विषय में प्रियानाथजी का जो सिद्धांत था उसे वह प्रयागराज में गौड़बोले से

प्रकाशित कर चुके। अब उन बातों को दुहराना वृथा पिसे को पीसना है। हाँ! यहाँ इतना अवश्य लिख देना चाहिए कि पंडित प्रियानाथ शिवपुरी में आकर शिवाराधन के रसास्वादन में मस्त हो जाने पर भी विष्णु को भूल जानेवाले नहीं। सांप्रदायिक मंदिरों में जाकर भगवद्दर्शन से अपने नेत्रों को तृप्त करना उनका नित्य कर्म है।

नित्य की भाँति आज भी यह पंडितायिन, गौड़बोले और बूढ़े, बुढ़िया और गोपीवल्लभ को लिए हुए दीनबंधु के साथ दर्शन करने के लिये गए हैं। संध्या आरती का समय है। दर्शनियों के ठट्ठ पर ठट्ठ जमे हुए हैं। कहीं लौकिक किटकिट हो रही है तो कहीं धर्म-चर्चा है। दर्शनों के लिये मार्ग प्रतीक्षा करने के लिये पंडितपार्टी ने जाकर धर्मचर्चा ही की ओर आसन लिया। धर्मचर्चा भी ऐसी वैसी नहीं। भगवान् ने स्वयं देवर्षि नारद से एक बार कहा था—

"नाहं वसामि वैकुंठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायंति तत्र तिष्ठामि नारद॥"

बस इस भगवद्वाक्य के अनुसार जहाँ समस्त वैष्णव, स्त्री पुरुष मिलकर एक स्वर से कभी पंचम, कभी मध्यम और कभी सप्तम स्वर से, जहाँ जिस स्वर की आवश्यकता हुई वहाँ उसी से, भक्तशिरोमणि सूरदासजी का राग देश में यह पद गा रहे थे ये लोग भी उन्हीं के साथ गाने में संयुक्त हो गए। वह पद इस तरह था—

"ऊधो जो तुम हृदय दृढ़ावत।
सो याँ भयो रहै पहले ही क्यों बकवाद बढ़ावत॥
सब ठाँ सों तुम कहत खैंचकर मनहि कृष्ण में जोड़ो।
सो यह गड़ो श्याम मूरत में निकसत नांहि निगोडो॥
लघु भोजन लघु नींद बताओ सो हम सब ही त्यागी।
प्रीतम अधरामृत की प्यासी नैनन हरि छबि लागी॥
देह गेह की ममता त्यागो सो हम सब ही कीन्हीं।
जब ते लग्यो नेह मोहन सों सबै तिलांजुलि दीन्हीं॥
तुम जो कहत त्रिकाल न्हान की तांको सुनो विचार।
रातन रहत रैन दिन भीगे बहत नैन जल धार॥
पंच अग्निकर कहत करो तप सो नहिं बुझत बुझाई।
प्रीतम विरहानल की ज्वाला हम यह देह पँजाई॥
ब्रह्म रंध्र कर प्राण तजन को ये मन कभु न पढ़ैंगे।
पिय दुख दशों द्वार तज जियरा हियरा फार कढ़ैंगे॥
अब कछु शेष रह्यो सो कहिए ताहि जपैं निसभोर।
सूरदास जो मिलैं आय के नागर नवलकिशोर॥"

इस पद को गाते गाते दंपती किस तरह भक्ति-रस में मतवाले बनकर देहाभिमान भूल गए, क्योंकर उनका अंतःकरण द्रवीभूत हो गया और कैसे उन्हें आत्मविस्मृति हो गई, सो पाठकों को समझाने की आवश्यकता नहीं। इस उपन्यास की ट्रेन में आरूढ़ होकर जब से उन्होंने अपने नेत्रों के हरकारे दंपती के पीछे पठाए तब से मथुरा में, प्रयाग में, काशी

में अनेक बार वे लोग खबर पा चुके हैं। अभी काशी ही में महात्मा तुलसीदासजी के आश्रम पर पाठकों ने इस युगुल जोड़ी की जो लीला देखी उसे अभी जुम्मा जुम्मा आठ दिन हुए हैं। हाँ! हमारे नवागत दीनबंधु के लिये यह समा एक-दम नवीन था। उन बिचारे को परोपकार की उधेड़ बुन में दिन रात लगे रहने में इतना अवकाश ही कहाँ जो इस स्वर्ग-सुख का अनुभव कर सकें। दंपती की ऐसी दशा देखकर उनसे न रहा गया। वह बोले—

"वास्तव में सच्ची भक्ति का स्वरूप यही है। यही "कृष्णप्रेम से कृष्ण होने" का ज्वलंत उदाहरण है। भगवान् के गुणानुवाद का वर्णन करते हुए यदि प्रियानाथ भाई की तरह इष्ट मूर्ति का चित्र नयनों के सम्मुख न खड़ा हुआ तो स्तुति ही क्या? किंतु चित्र खड़ा करना सहज नहीं है। चित्र तब ही खड़ा हो सकता है जब सब झगड़ों को छोड़कर उसके चरणारविंदों में लौ लग जाय। लौ लगना अभ्यास से हो सकता है और उसका स्वरूप गद्गद हो जाना है।"

"हाँ महाराज, सत्य है। परंतु देखिए तो गोपियों का अटल प्रेम! वास्तव में यह प्रेम अलौकिक है। जो इस प्रेम को व्यभिचार कहते हैं वे झख मारते हैं। गोपियों के ऐसे प्रेम के आगे शुक सनकादि भी कोई चीज नहीं। बड़े बड़े ऋषि महर्षि जिनके चरणों पर लोटने को तैयार, भगवान् पार्वतीपति तक भी जिनमें संयुक्त होकर नृत्य करने से अपनी

कृतार्थता समझें ! इससे बढ़कर "प्रेमलक्षणा" भक्ति क्या होगी ? शास्त्रकारों ने—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं ।

अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम ॥"

इस प्रकार नवधा भक्ति का निरूपण किया है। उनमें यहाँ गोपियों में आत्मनिवेदन की सीमा है। इससे बढ़कर आत्मविसर्जन क्या होगा ?"

"अच्छा भाई ! अच्छा अमृत पिलाया। जरा इस नवधा भक्ति की थोड़ी सी व्याख्या तो करो। वास्तव में तुम पंडित हो, भक्त हो और ज्ञानी हो। तुमसे बढ़कर समझानेवाला कौन मिलेगा ? इस तरह समझाओ जिससे मेरा शुष्क अंतः-करण स्निग्ध होकर पिघल जाय।"

"हैं महाराज ! आप जैसे विद्वानों के सामने ? मैं 'कोटस्य कीटायते।' अस्तु पिताजी, यदि पुत्र के मुख की तोतली वाणी सुनकर मन को प्रसन्न करना है तो सुनिए। मैं थोड़े में, सूत्ररूप से निवेदन करता हूँ। भक्ति के सिद्धांत, उसके तत्त्व जानने के लिये शांडिल्य ऋषि के "भक्तिसूत्र" देवर्षि नारद की "नारदपंचरात्र" श्रीमद्भागवत और रामा-यणादि ग्रंथों में भगवान् की अवतारकथाएँ और ध्रुव, प्रह्लाद, हनुमान्, अर्जुन, गोपिकाओं—इस प्रकार प्राचीन और सूर-दास, तुलसीदास आदि अर्वाचीन भक्तों के चरित्र पढ़ने चाहिएँ। भक्ति का पर्याय श्रद्धा, और तर्क श्रद्धा का विरोधी

है। इसलिये जो सचमुच भक्ति करना चाहे उसे तर्क को पास तक न फटकने देना चाहिए। पतिव्रता स्त्री और भक्त के लक्षण समान ही हैं। स्त्री कैसी भी रूपवती हो, गुणवती हो किंतु यदि उसके पति को जरा सा भी संदेह हो जाय कि यह पर पुरुष को भजती है तो वह उसे लातों मारकर निकाल देता है, जान लेने को, नाक काटने को तैयार होता है और इस तरह जो एक समय प्राणों से भी प्यारी थी उसका वह जानी दुश्मन बन जाता है। बस इस कारण भक्त के अंतःकरण को तपाकर उसमें से द्विधा, तर्क और अनाचार निकालने के लिये वह भी उसी तरह कसौटी पर बारंबार कसा जाता है। उसके शोक संताप की उसी तरह बिलकुल पर्वाह नहीं की जाती जिस तरह सदा का दुःख मेटने की इच्छा से पुत्र का फोड़ा चिराते समय माता बेदर्द हो जाती है।"

"बेशक, भक्ति का यही स्वरूप है, किंतु अब जरा नवधा भक्ति का तो निरूपण कर दो। फिर दर्शन का समय आनेवाला है।"

"हाँ अच्छा! श्लोक में नवधा भक्ति कही गई है। उस का अर्थ स्पष्ट है। व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं और सो भी आप जैसे विद्वान् के सामने व्याख्या करना मानों सूर्य को दीपक लेकर दिखलाना है। भगवान् के अवतारों की लीलाएँ जो भागवतादि ग्रंथों में कही गई हैं, उनके भक्तों के जो चरित्र पुराणादि में वर्णित हैं, उन्हें प्रेमपूर्वक सुनना,

उस पर मनन कर अपने अंतःकरण में उन उत्कृष्ट भावों को ठसाना, बस "श्रवण" शब्द से यही प्रयोजन है। "कीर्तन" का दृश्य आपने अभी देख ही लिया। बस इसकी व्याख्या मैं क्या निवेदन करूँ? "स्मरण" का सबसे बढ़िया उदाहरण महर्षि वाल्मीकि जी हैं, जो "राम राम" की जगह "मरा मरा" जपते हुए भील के बालक से महर्षि हो गए, साहित्य शास्त्र के आचार्य हो गए। केवल मन की एकाग्रता चाहिए। यदि मन की सच्ची लगन न हो तो—

"मनका फेरत जग मुआ गया न मन का फेर।
कर का मनका छाँड़ कर मनका मन का फेर॥"

इस लोकोक्ति से अँगुलियों के पोरुवे और माला के मनिए घिस जाने पर भी कुछ नहीं, अनेक जन्म बीत जाने पर भी निरर्थक। पादसेवन की, अर्चन और वंदन की व्याख्या अभी मंदिर के पट खुलते ही श्रीमुकुंदरायजी स्वयं कर देंगे। ये तीनों प्रकार एक दूसरे से परस्पर जलदुग्धवत्, दूध-बूरे की भाँति मिले हुए हैं। मूर्ति-पूजा इन तीनों ही का प्रकार है। भगवान् के मंदिर में बैठकर पक्षपात से नहीं कहता। शैव, शाक्त, गाणपत्य और वैष्णव क्या सब ही संप्रदायों में अपने अपने सिद्धांतों के अनुसार "यथा देहे तथा देवे" के मूल पर सेवा भक्ति का प्रकार विलक्षण है, स्तुत्य है और ग्राह्य है, किंतु महाराज, सत्य मानना, जितनी बारीकी बल्लभ संप्रदाय में देखी, उतनी किसी में नहीं। वास्तव में वह अलौकिक है।

इसमें जितने जितने भीतर घुसते जाइए उतना ही गहरापन है। धन्य.........यों कहकर ज्योंही प्रियानाथ कुछ आगे निरूपण करना चाहते थे कि संध्या आरती का टकोरा हुआ। जय! जय!! जय!!! के जयघोष से वैष्णव मंडली जाति पाँति का, स्त्री पुरुष का, छोटे बड़े का भेद छोड़कर भीतर घुसने लगी और पंडित प्रियानाथ भी "और दास्य का उदाहरण हनुमान् और आत्मनिवेदन का गोपिकाएँ" कहते हुए श्रीमुकुंदरायजी के समक्ष हाथ जोड़कर ईश-स्तवन में सूरदासजी का यह पद गाने लगे —

"शोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुन चलत रेणु तनु मंडित मुख दधि लेप किए॥
चारु कपोल लोल लोचन छबि गोरोचन को तिलक दिए।
लट लटकत मानो मुदित मत्त घन माधुरि मदहि पिए॥
कठला कंठ बज्र केहरि नख राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकहु पल यह सुख कहा भयो शत कल्प जिए॥"

"वास्तव में यदि एक क्षण भर के लिये भी इस पद में गाया हुआ श्रीमुकुंदरायजी का यही स्वरूप मन में बस जाय तो बस त्रिलोकी का साम्राज्य भी इस पर वारकर फेंक देना चाहिए, स्वर्ग का सुख भी इसके आगे तुच्छ!"

"हाँ महाराज सत्य! परंतु हम जैसे पापी पामरों के नसीब में यह सुख कहाँ? हाँ हाँ!! बेशक! निःसंदेह! जो पद में है वही विग्रह में है। हाँ देखिए महाराज, सच-

मुच ही मुख पर दधि लिपट रहा है। अहा! देखो तो सही। एक कौवा उस सुख को लूटे जा रहा है। भगवान् के मुख से दधि की जो बूँदें गिरती हैं उन्हें यह काक पक्षी अधर ही में लेकर अमृत पान कर रहा है। यह कौवा नहीं साक्षात् कागभुशुंडी है। धन्य काक! एक निकृष्ट से भी निकृष्ट, अधम से भी अधम शरीर धारण करने पर तुम धन्य हो। तुम्हारे आगे ब्रह्मादिक देवता तुच्छ हैं। आज इससे सिद्ध हो गया कि जाति पाँति, नीचा और ऊँचा राजा और रंक, सब लौकिक व्यवहार में हैं। परमेश्वर के लिये सब समान है। जो उनका भक्त वह नीचातिनीच भी सर्वोत्तम और जो भक्त नहीं वह महाराजाधिराज होने पर भी तृणवत्, कौवे से भी गया बीता।"

बस इस तरह का विचार कर श्रीगोपाललालजी के दर्शन के अनंतर वह उस दिन के शेष कामों में प्रवृत्त हो गए।

प्रकरण—३६

काशी की भलाई और बुराई

काशी भारतवर्ष में दस्ती कारीगरी का केंद्र है। लखनऊ और दिल्ली को छोड़कर हिंदुस्तान में कदाचित् ही ऐसा कोई नगर हो जो काशी की समता कर सके। यद्यपि वहाँ का बना माल वहाँ ही बहुतायत से बिकता है किंतु भारत के अन्य बाजारों में भी वह जहाँ तहाँ बिकता हुआ देखा जाता है, यहाँ तक कि काशी के माल का नफासत में, उत्तमता में और कारीगरी में, देश भर में सिक्का है। काशीवाले समय के अनुसार इस काम में उन्नति भी करने लगे हैं किंतु एक काम की ओर अभी तक उनका ध्यान नहीं गया है। यदि वहाँ के व्यवसायी भारतवर्ष के बड़े बड़े नगरों में, विलायत तक में बनारसी माल बेचने के लिये दूकानें खोलें तो माल की माँग बढ़ सकती है, आढ़तियों के नफे से खरीदारों का बचाव हो सकता है और कारीगरों को उत्तेजना मिल सकती है। इतने दिनों के अनुभव से पंडित प्रियानाथ को यही निश्चय हुआ। इन्होंने यह बात अपनी नोटबुक में लिख ली क्योंकि कांता-नाथ अजमेर में जो कार्य आरंभ करना चाहते थे उसके लिये यह लाभदायक थी।

इतने दिनों के अनुभव से पंडित प्रियानाथ की जो बनारस-वालों के लिये राय हुई उसका मर्म यही है कि काशी यदि बदमाशी में सीमा को पार कर गई है तो यहाँ भलमनसी भी ऊँचे दर्जे की है। यहाँ यदि व्यभिचार के लिये जगह जगह अड्डे दिखलाई देते हैं तो पातिव्रत की भी पराकाष्ठा है। एक मोहल्ले में रहकर मील दो मील के फासले पर दूसरे मोहल्ले में अपनी आशना को रखना और उसके पास जाकर नित्य मौज उड़ाना यहाँ के अमीरों का शेवा है, इसमें यदि निंदा नहीं समझी जाती तो ऐसे भी नरनारी यहाँ कम नहीं जो पाप कथाएँ सुनकर "हर हर महादेव" का नामोच्चारण करते हुए कानों में अँगुलियाँ डाल लेते हैं। यह बात एक दिन प्रियानाथ ने दीनबंधु से स्पष्ट कह भी दी और दोनों को खेद भी कम न हुआ।

इस तरह काशी भलाई और बुराई का घर है। यह जन-समाज की प्रदर्शिनी है। यदि सब देशों के नर नारी, कम से कम भारतवर्ष के प्रत्येक प्रांत के निवासी एक जगह देखने हों तो इसके लिये काशी से बढ़कर कोई नगर नहीं! यहाँ बंगाली, बिहारी, गुजराती, दक्षिणी, मारवाड़ी, पंजाबी, उड़िया, मदरासी, कच्छी, सिंधी सब मौजूद हैं। यहाँ युरोपियन, जापानी, चीनी, सिंहाली और दुनिया के पर्दे पर जितनी जातियाँ हैं लगभग उन सबका नमूना मौजूद है। ये लोग केवल यात्रा के लिये, तीर्थस्नान के लिये आकर चले जाते हों सो नहीं। कोई तीर्थ सेवन करके "काशी मरणान्मुक्तिः"

इस सिद्धांत के अनुसार यहाँ मरने के लिये आते हैं, कोई व्योपार धंधे और नौकरी के लिए आते हैं और कोई विद्योपार्जन के लिये। काशीवासियों की तो कथा ही क्या? जब लोगों का विश्वास है और शास्त्रों के अनुसार विश्वास है कि काशी में आकर अथवा रहकर जो मरता है वह फिर जन्म धारण नहीं करता, तो इसमें संदेह नहीं। प्राचीन काल में यह अक्षरशः सत्य था और अब भी इसमें मिथ्यात्व नहीं। हाँ अंतर इतना ही है कि जो यहाँ पर आकर अथवा रहकर सुकार्य में प्रवृत्त होते हैं उन्हें भगवान् शंकर जीवन्मुक्त करके कैलाश में ऊँचा आसन देते हैं और जो बुराई में घुस पड़ते हैं उन्हें मरने पर पिशाच योनि धारण करनी पड़ती है। वे भूत होते हैं, प्रेत होते हैं, नाना प्रकार की यातनाएँ भोगते हैं और फिर दोनों को सताकर पाप के गहरे से गहरे गढ़े में पड़ते हैं। देश के दुर्भाग्य से हमारी करनी से समय के अनुसार ये बातें थोड़ी और बहुत सर्वत्र हैं किंतु काशी ऐसा क्षेत्र है जहाँ से जैसे स्वर्ग एक सीढ़ी ऊँचा है वैसे ही नरक एक जीना नीचे को है। दोनों ही स्थान यहाँ पर स्वल्प साधन से प्राप्त हो सकते हैं।

बाहर से आकर यहाँ निवास करनेवाला यदि अपने द्रव्य से कालयापन करना चाहे तो उसका तो कहना ही क्या? किंतु भिक्षा से, मधुकरी से, अन्नसत्र में भोजन कर गंगा तीर पर पड़ रहना और दिन रात भगवान् के स्मरण में मन लगाना भी यहाँ अच्छा बन सकता है। केवल इसी के भरोसे यहाँ

हजारों साधु संन्यासी निवास करके वेदांत का अनुशीलन करते हैं और गृहस्थ ब्राह्मणों के बालक संस्कृत का अध्ययन करते हैं। काशी की बुरी हवा लग जाने से उनमें बिगड़ने-वाले, बिगड़कर प्रजापीड़न करनेवाले यदि कम नहीं हैं तो कर्तव्यदक्ष भी थोड़े नहीं। सच्चे संन्यासी, सज्जन ब्रह्मचारी भी कम नहीं। यहां रहकर सचमुच सच्चे संन्यस्त आश्रम का पालन करते हुए जीवन्मुक्त हो जानेवाले साधु देखे जाते हैं और ब्रह्मचर्य व्रत के व्रती होकर अन्नसत्र के भोजन से अपनी क्षुधा तृप्त करने के सिवाय दिन रात अध्ययन-अध्यापन में बितानेवाले विरागी ब्राह्मण-बालक भी।

काशी में हजार बुराइयां हों किंतु इस गुण ने अब भी, इस गए बीते जमाने में भी संसार में काशी का मस्तक ऊँचा कर रखा है। यदि साधु ब्राह्मणों का अटल स्वार्थत्याग, उनकी अप्रतिम धर्मभक्ति और असाधारण प्रतिभा कोई देखना चाहे तो उसके लिये संसार में काशी से बढ़कर कोई जगह नहीं। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक ब्राह्मणों को पानी पी पीकर कोसनेवाले हजारों नई रोशनीवाले मिलेंगे। वे यदि अपनी भ्रांति मेटना चाहें तो काशी में आकर देखें। ब्राह्मण बालकों का निःस्वार्थ संस्कृत-प्रेम उनकी आंखों के सामने मूर्तिमान् आ खड़ा होगा। किसी अँगरेजी पाठशाला में जाकर एक अबोध बालक से पूछिए कि "बच्चा तू अँगरेजी पढ़कर क्या करेगा?" तो तुरंत उत्तर मिलेगा कि "हम

डिपुटी कलक्टरी करेंगे, वकालत करेंगे अथवा कोई सरकारी उहदा प्राप्त करेंगे।" उनकी यह आशा फलवती हो अथवा न हो, विशेष कर नहीं भी होती है क्योंकि शिक्षा प्रणाली के दोष से आजकल अँगरेजी शिक्षित टके के तीन बिक रहे हैं किंतु उन्हें जब आशा, ऊँचा पद पाने का लालच, कमाई करके रुपयों से घर भर देने की आकांक्षा "पहाड़ खोदकर चूहे निकालने" में प्रवृत्त करती है तब संस्कृत के विद्यार्थी ब्राह्मण बालकों के लिये कमाई के नाम पर वही ढाक के तीन पात। प्रथम संस्कृत महासागर का पार करना ही कठिन, "इंद्रादयोपि यस्यांतं न ययुः शब्दवारिधेः", फिर यदि अच्छे नामी विद्वान् भी हो गए तो दर्भंगा नरेश से एक धोती पा लेने में उनकी कमाई की इतिकर्त्तव्यता। साहित्याचार्य, ज्योतिषाचार्य, नैयायिक, दर्शनवेत्ता, कर्मकांडी, तंत्रशास्त्री और सर्व शास्त्र-निष्णात बनकर यदि घर गए अथवा कमाई के लिये विदेश ही गए तो केवल भिक्षा, दान अथवा कथा-वार्ता के सिवाय उनकी जीविका नहीं। देशी रजवाड़ों में, देशहितैषी समाजों में उन्हें कोई पूछनेवाला नहीं। ऐसी दशा में, कष्ट सहकर भी, भविष्यत् में आशा के नाम पर कसम खाने को कुछ न होने पर भी वे संस्कृत पढ़ने के लिये बीस बीस वर्ष तक सिर तोड़ परिश्रम करते हैं, रूखे सूखे अन्न और फटे पुराने कपड़ों से गुजर करते हैं। इससे बढ़कर स्वार्थत्याग क्या होगा? आजकल नए नए प्रबंध से नए नए गुरुकुल खोले जाते हैं

किंतु मेरी समझ में यही प्राचीन गुरुकुल का नमूना है। यदि देशहित से झूठा दम भरनेवाले लोग सचमुच संस्कृत के उपकार से देश का उपकार समझते हों तो वे इन विद्यार्थियों की, विपत्तिसागर में डूबनेवाले ब्राह्मण बालकों की बाँह गहकर इनके अध्यापन को शृंखलाबद्ध करें, संस्कृत के साथ साथ इन्हें अर्थकरी विद्या सिखाने की योजना करें। लंबे लंबे स्कीम बनाने के सिवाय जब धर्म के ठेकेदार लोग गाढ़ निद्रा में सो रहे हैं तब यदि कहा भी जाय तो किससे! इस प्रकार की बातें करते करते पंडित प्रियानाथ और गौड़बोले पंडित दीनबंधु के सामने रो उठे। उन दोनों के रुदन में अपने आँसू मिलाकर "वास्तव में तुम्हारा कथन यथार्थ है" कहते हुए पंडित दीनबंधु बोले—

"आपने जो कुछ कहा वह विद्यार्थियों के विषय में कहा। विद्यार्थियों की दशा का आपने अच्छा खाका खैंच दिखाया परंतु यहाँ के विद्वानों पर भी तो जरा दृष्टि डालिए। हमारे शास्त्रों में से ऐसा कोई विषय नहीं जिसके पारंगत यहाँ विद्यमान न हों। साहित्य के, न्याय के, ज्योतिष के, वेद के, वेदांत के, वैद्यक के, दर्शनों के, मीमांसा के, सांख्य के और सब ही शास्त्रों के उत्कृष्ट विद्वान्, एक से एक बढ़कर यहाँ आप लोग देख चुके, इतने बढ़कर कि उनकी जोड़ के दुनिया के पर्दे पर नहीं। बड़े बड़े नामी युरोपियन उनसे शिक्षा लेने आते हैं। आने में आश्चर्य भी नहीं। प्रोफेसर मैक्समूलर

जैसे विद्वान जो युरोपियन समाज में संस्कृत पढ़कर ऊँचा आसन पा चुके हैं स्वयं कहते थे कि "हम लोग संस्कृत महा-सागर की गहराई में घुसना तो दरकिनार किंतु उसके किनारे पर पहुँचने की भी अब तक योग्यता नहीं रखते। हम जो कुछ राय देते हैं वह दूर की कौड़ियाँ वीनकर।" अब जरा यहाँ के विद्वानों की सादगी की ओर नजर डालिए। थोड़े हेर फेर के अतिरिक्त उनका जीवन वही प्राचीन समय के ऋषियों का सा है। वैसे ही वे अल्प संतोषी वैसे ही ब्राह्मणोचित षट्कर्मों में निरत। इनके यहाँ विद्यादान के लिये सदाव्रत, गुरुकुल मौजूद है। कोई भी विद्यार्थी चला आवे उसे पढ़ाने में कभी उन्हें इंकार नहीं। इनके घर बालकों के अध्ययन घोष से निनादित रहते हैं, जो वैश्वदेवादि नित्य और नैमित्तिक यज्ञों के समय "स्वाहा" से और श्राद्धादि की विरियाँ "स्वधा" के कर्णमधुर स्वरों से गुंजायमान हैं, जहाँ जाकर दस मिनट खड़े रहने से कहीं वेदमंत्रों से कान पवित्र होते हैं तो कहीं साहित्य शास्त्र की रचना "किंकवेस्तस्य काव्येन किं कांडेन धनुष्मता। परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरम्॥" इस लोकोक्ति से सिर हिल उठता है। उनकी दशा भी, आर्थिक स्थिति भी वैसी ही है जैसी विद्यार्थियों की। उनसे भी निकृष्ट। क्योंकि विद्यार्थियों को पेट पालने का कुछ भार नहीं किंतु उन्हें गृहस्थी का पालन करना है। ऐसी दशा में उनकी दी हुई व्यवस्था पर यदि लोग दोष देते हैं तो उनकी भूल है।"

"हाँ महाराज सत्य है। परंतु तीर्थगुरुओं की यहाँ भी दुर्दशा देखी! उनके लिये कमाई का मार्ग खुला रहने पर भी वे अपने बालकों को नहीं पढ़ाते। और साधुओं के भी अध्ययन का कोई स्वतंत्र प्रबंध नहीं।"

'नहीं! है। इन दोनों के लिये पाठशालाएँ खुली हैं और अब सबसे बढ़कर भरोसा हिंदू विश्वविद्यालय पर किया जाता है। तीर्थगुरुओं में जैसे आप मथुरा, प्रयाग और काशी, गया में निरक्षर भट्टाचार्य, कुकर्मी और खोटे पाते हैं वैसे इनमें अच्छे भी हैं और जो हैं वे बहुत ही अच्छे हैं।'

"बेशक ठीक है परंतु क्या हिंदू विश्वविद्यालय से यह काम सिद्ध हो सकता है? यदि हो सके तो समझना होगा कि देश का सौभाग्य है। नहीं तो काशी में बड़े बड़े कई एक कालेज हैं, भारतवर्ष में कोड़ियों कालेज हैं, हजारों स्कूल हैं।"

"आशा तो अच्छी ही करनी चाहिए।"

"भरोसा तो ऐसा ही है। परंतु महाराज जो सरस्वती प्रयाग में सितासित संगम के साथ गुप्त रूप होकर बहती है उसका यहाँ प्रकट प्रवाह देख पड़ा। जिधर निकल जाइए उधर ही संस्कृत का अँगरेजी का एवं अन्य भाषाओं का धारा प्रवाह है। वास्तव में काशी विद्यामंदिर है। जैसे यहाँ भगवान् भूतभावन का और भागवती भगीरथी का निवास है वैसे ही यहाँ के हजारों आदमियों के मुख में, हृदय में सरस्वती विराजमान है। प्रत्यक्ष है। जहाँ भगवती ने विद्वानों के,

विद्यार्थियों के हृदयमंदिर में डेरा कर लिया है वहाँ यदि प्रत्यक्ष मंदिर न भी हो तो कुछ चिंता नहीं। मूर्तिपूजा का यह प्रत्यक्ष उदाहरण है।"

ये बातें उस समय की हैं जब ये तीनों एक साथ काशी की गलियों में, विद्वानों के विद्यामंदिरों में, उनकी कुटियों में, गंगातट पर सरस्वती की आराधना करके अपने नयनों को तृप्त, अपने हृदयों को पवित्र और इस तरह कृतकृत्य करने के लिये विचर रहे थे। ऐसे आज का कार्य समाप्त हुआ। आज प्रियंवदा को साथ ले जाने की आवश्यकता नहीं थी। आज भगवानदास के साथ जाने से कुछ लाभ नहीं था किंतु आज की यात्रा का हाल उन लोगों को समझाकर उन्हें अवश्य संतुष्ट कर दिया गया और तब कल वरुणासंगम पर एक दो महात्माओं के दर्शन के लिये जाना निश्चय हुआ।

प्रकरण—४०

महात्माओं के दर्शन

वरुणा गुफा के पक्के मकान में नहीं, उसके निकट पर्णकुटी में भगवती भागीरथी के कूल पर तीन साधु रहते हैं। वरुणा गुफा में निवास करनेवाले साधुओं में दो एक अच्छे चमत्कारी हैं। उनके पास कोई पुत्र-कामना से जाता है, कोई धन-कामना और कोई उनके चमत्कारों की परीक्षा लेने के लिये किंतु इस पर्णकुटी की ओर कोई देखता तक नहीं। कुटी बिलकुल आडंबरशून्य और उसके निवासियों में प्रपंच का लेश नहीं। दिन-रात की साठ घड़ियों में एक बार उनमें से एक संन्यासी नगरी में जाकर चाहे जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, द्विजों के घर से तीन मधुकरी माँग लाता है। माँगने में अड़कर नहीं, सताकर नहीं और रिरियाकर नहीं। नित्य नए तीन गृहस्थों के द्वार पर जाना, सवाल करके दस मिनट राह देखना और फिर जैसी कुछ मिले वैसी लेकर चले जाना, अथवा न मिले तो यों ही चले जाना, इस तरह जो कुछ मिल जाय उसे गंगाजल में धोकर तीनों एक बार पा लेते हैं। बस शरीरकृत्य से निवृत्त होने, आश्रम धर्म का पालन करने और ब्रह्म का चिंतन करने के अतिरिक्त इन्हें कुछ काम नहीं। गीता के भगवद्वाक्य के

अनुसार संसार जब मोहनिद्रा में शयन करता हुआ खुर्राटे भरता है तब ये तीनों जागते हैं इसलिये "या निशा सर्वभूतानि तस्यां जागर्ति संयमी" का मानो ज्वलंत उदाहरण हैं। इन तीनों में एक गुरू और दो शिष्य मालूम होते हैं। गुरूजी का वय कोई सत्तर अस्सी वर्ष का, एक शिष्य पचास-पचपन साल का होगा और दूसरे की उमर पचीस से अधिक नहीं। तीनों का शरीर सुडौल, दुर्बल नहीं और तीनों की मुख की शोभा से उनका तप फूट-फूटकर निकला पड़ता था। तीनों में गुरू का नाम ब्रह्मानंद, ज्येष्ठ शिष्य का भगवदानंद और कनिष्ठ का पूर्णानंद। जब इतना ही लिख दिया गया तब पाठकों से पहेली बुझाकर उन्हें उलझन में डाले रखने और इनका परिचय देने के लिये कागज रँगने से कोई लाभ नहीं। इसलिये मैं ही बतलाए देता हूँ कि इनमें से गुरूजी के यद्यपि किसी ने अभी तक दर्शन नहीं किए थे किंतु बड़ा शिष्य प्रयाग में हमारी यात्रापार्टी को भागीरथी के परले किनारे पर्णकुटी में और छोटा शिष्य अर्बुद गिरिशिखर पर प्रियंवदा को दर्शन दे चुका है। यद्यपि ये लोग बुद्धू बाबू को कई बार, कई रूप में "अनेक रूप रूपाय" देखकर नहीं पहचान सके, यहाँ तक कि पंडित प्रियानाथ नसीरन रंडी को प्रियंवदा मानकर धोखा भी खा चुके परंतु आश्चर्य है कि न मालूम आज इन्होंने केवल एक ही झलक में इन्हें क्योंकर पहचान लिया। कदाचित् इन महात्माओं के तप का प्रभाव हो अथवा पार्टी का सौभाग्य।

अस्तु ! सबके सब दर्शनी गुरू के चरण-कमलों में साष्टांग प्रणाम कर पारी पारी से दोनों शिष्यों को हाथ जोड़कर "नमो नारायण" करते हुए बैठ गए। "आओ बाबा, बड़ा अनुग्रह किया !" कहकर गुरूजी ने उन लोगों का आतिथ्य किया। बहुत देर तक ये लोग टकटकी लगाए मौन होकर गुरूजी के मुखकमल को निरखते हुए बैठे रहे। किसी का हियाव न हुआ कि कुछ पूछें। इनमें से पंडित दीनबंधु, पंडित प्रियानाथ और पंडित गौड़बोले, तीनों तीन प्रश्न विचारकर ले गए थे। पूर्णानंद को देखकर प्रियंवदा के मन का वही पुराना भाव, वही स्त्री जाति के जीवन की सर्वोच्च आकांक्षा, सब सुख होने पर भी अंत:करण में छिपी हुई वही वेदना ताजी हो गई। बूढ़ा भगवानदास जिस चिंता के मारे सूखा जाता था वह काशी आकर कितने ही अंश में मिट चुकी थी, इस कारण दर्शन करने के सिवाय उसे कोई प्रयोजन सिद्ध करना नहीं था। भाँ बेने बिचारे सीधे सादे किसी गिनती में नहीं। बस यही इस पार्टी के हृद्गत भावों की रिपोर्ट है।

जब इन लोगों को बैठे बैठे बहुत देर हो गई तब उकताकर नहीं, क्रोध करके नहीं, क्रोध भी करते तो कर सकते थे क्योंकि इनके आह्निक में विक्षेप पड़ता था, गुरूजी बोले, जिन्होंने इतिहासों और पुराणों का अवलोकन किया है वे स्वीकार करेंगे कि ब्राह्मण जैसे क्रोध में आग हो जाते हैं वैसे क्षमा में पृथ्वी और समुद्र होते हैं। क्रोध बड़े बड़े ऋषि महर्षियों से नहीं

छूटा। किंतु गुरुजी का सौम्य मुख, भव्य ललाट बतला रहा है कि इनके हृदय में क्रोध का लेश नहीं, अस्तु गुरुजी ने इन लोगों से योंही पूछकर इस तरह इनका मौन तोड़ा —

"बाबा क्यों आए हो ? जो कुछ इच्छा हो कहो ?"

"महाराज, आप हमारे मन की बात जाननेवाले हैं, त्रिकालदर्शी हैं। आपसे क्या निवेदन करें ?"

"नहीं बाबा, मैं आपकी तो क्या अपने मन की बात भी नहीं जानता। जो त्रिकालदर्शी हैं वे हिमालय गिरि-गुहा छोड़कर यहाँ दुनिया को ठगने नहीं आते। मैं तो भिखारी हूँ। काशी के विद्वानों की बड़ाई सुनकर स्वयं उनसे उपदेश की भिक्षा माँगने आया हूँ। आप ही कुछ भिक्षा दीजिए।"

"हैं महात्मा ! यह उलटी गंगा ! उलटी गंगा न बहाइए। जो आपसे भीख माँगने आए हैं उनसे भीख! हम जैसे विद्या के दरिद्री, मन के दरिद्री, और सब तरह के दरिद्री के पास से शिक्षा की भिक्षा ! हाँ भगवान् दत्तात्रेय की तरह यदि आप भी हों तो जुदी बात है।"

जिस समय दीनबंधु की गुरू महाराज से इस तरह की बातें हो रही थीं उसी समय प्रियवंदा ने अपने अंचल में से खोलकर दो अशर्फियाँ भेंट कीं और साथ ही उसकी झोली में कुछ केले, नारंगी, अनार आदि थे वे उनके चरणों में रख-कर प्रणाम किया। "हमने आज मधुकरी पा ली है। संग्रह करना अच्छा नहीं।" कहकर महात्मा ने एक एक करके फल

सबको बाँट दिए। उनमें से एक अनार उठाकर बहुत देर तक वे उसकी ओर देखते रहे और तब "अखंड सौभाग्यवती पुत्रवती भव" का आशीर्वाद देते हुए उन्होंने उसे प्रियंवदा की झोली में डाल दिया। ऐसे सब कुछ दे दिया किंतु अशर्फियाँ किसी को न दीं। उनके पास लँगोटी के सिवाय कपड़ा नहीं, कंबल नहीं, पुआल के सिवाय बिछौना नहीं और दोनों हाथों को मिलाकर जल पीने के लिये ग्लास बना लेने के अतिरिक्त कोई पात्र नहीं, तुंबी तक नहीं, कठौती तक नहीं, तब यदि उन मुहरों को रखते भी तो कहाँ रखते। खैर कुछ भी न हो किंतु उन्होंने वे किसी को दीं नहीं, मुट्ठी को छोड़कर वे उनके पास से डिगीं तक नहीं। यदि उन्होंने उनका यह अड्डा छुड़ाया भी तो कभी सिर पर, कभी बगल में और कभी कंधे पर रखा किंतु खैंच खाँचकर फिर वही मुट्ठी। यदि दहना हाथ पसीज उठा तो बायें में और बायें से फिर दहने में। कोई आधे घंटे तक इस तरह करके तब वह अशर्फियाँ गोपीबल्लभ को देते हुए वे बोले—

"बाबा, इन्हें जाकर गंगाजी में डाल आ। उसी में हमारा खजाना है।"

सुनकर गोपीबल्लभ कुछ हिचकिचाया भी सही, कुछ शर्माया भी सही परंतु उनकी आज्ञा माथे चढ़ाकर डाल अवश्य आया। "आप जैसे महात्मा के अशर्फियाँ भेंट करने में इसका अपराध ही है। आप क्षमा करें।" यह कहकर प्रियानाथ हाथ जोड़ने

लगे। "नहीं बाबा इस माई का कोई दोष नहीं। हमारे पास रखने की जगह ही नहीं। नहीं तो हम ही क्यों देते?" कहकर उन्होंने आश्वासन किया और तब कहने लगे—

"अच्छा, तुम नहीं छोड़ते हो तो मैं ही कहता हूँ। सुनो! मान लो कि आप तीनों विद्वानों में से एक (गौड़बोले की ओर इशारा करके) महाशय प्रारब्ध की परिभाषा पूछने आए हैं। जो लोग उद्योग में सफल हो जाते हैं वे उसे प्रधान और जिनका भाग्य फल जाता है वे प्रारब्ध को मुख्य मानते हैं। जिसे जिसमें फायदा होता है उसी पर उसकी श्रद्धा बढ़ती है। है यह अँधेरी कोठरी। शास्त्र का सिद्धांत तो आप जैसे पंडितों से क्या कहूँ? हाँ! मेरा अनुभव कहता है कि प्रारब्ध की सहायता से ही उद्योग हो सकता है और उद्योग ही नसीब को बनानेवाला है। जीव पर पूर्व जन्म में उद्योग करने से जो संस्कार पैदा होते हैं वे ही हमारा नसीब है किंतु यदि केवल प्रारब्ध ही मुख्य मान ली जाय तो सृष्टि के आरंभ में जीव जब उत्पन्न हुआ तब उसके लिये नसीब कहाँ था। इसलिये जिधर उसकी प्रवृत्ति हुई वही उसका उद्योग और उस उद्योग का परिणाम ही प्रारब्ध है। शरीरांत होने पर धर्मराज संचित और क्रियमाण कर्मों का लेखा लगाकर प्राणी को स्वर्ग और नरक देते हैं।"

"तब तो महाराज, परमेश्वर कोई वस्तु नहीं।"

"राम राम! हर हर! ऐसा कभी न कहो। भगवान् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ है। वह वास्तव में हमें नट-

मर्कटवत् नचाता है। उसके लिये हम कठपुतलियां हैं। उसने कर्म से हमको स्वतंत्र किया है और फल उसके हाथ में है। आकाश में उड़कर हवा के झोंके से पतंग जैसे इधर उधर भटकने पर भी डोरी उड़ानेवाले के हाथ में है, वैसे ही हम उसके हाथ की पतंग हैं। हवा के झोंके पाप पुण्य के संस्कार हैं, दूसरे की पतंग से, आँधी बवूले से अथवा बनावट की खराबी से फट जाना, टूट पड़ना उन संस्कारों के फल हैं। हम यदि आकाश में उड़ाने के बाद उसे उतार लेने में समर्थ न हों तो कसर हमारी है। किंतु परमेश्वर यावत् त्रुटियों से रहित है, परिपूर्णतम है।"

इतने ही में गंगाजी में नाव में बैठे हुए कितने ही यात्रियों में से वंशी की आवाज आई। कानों पर भनक पड़ते ही पंडित प्रियानाथ को भगवान् मुरली मनोहर की झांकी याद आ गई। वह बोले—

"महाराज, इस शुष्क विषय को जाने दीजिए। और कोई बात छेड़िए।"

"अच्छा तो आप शायद भक्ति की व्याख्या सुनना चाहते हैं परंतु परसों आपका (दीनबंधु के लिये) इनसे जो संभाषण हुआ उससे बढ़कर मैं क्या कहूँ? वही इसका निचोड़ है। यदि आपको विशेष जानना हो तो श्रीमद्भागवत से बढ़कर कोई इसका शिक्षक नहीं। उसी का मनन कीजिए। उसमें केवल भक्ति का ही निरूपण हो सो नहीं। उसमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य

सब कुछ है। सबके सब ओतप्रोत भरे हैं। जैसा अधि-कारी हो वैसी ही सामग्री यदि इकट्ठी एक ग्रंथ में देखनी हो तो भागवत देखो। उसमें पाँच वर्ष के बालक बीस वर्ष की युवती और साठ वर्ष के बूढ़े सबके लिये समान सामग्री है। दुनिया में चाहे भक्ति से हो, ज्ञान से हो बंधमोक्ष से छुटकारा पाने के लिये भागवत से बढ़कर कोई ग्रंथ नहीं।"

"अब एक ही महाशय के प्रश्न का मुझे उत्तर देना है। इनका प्रश्न बड़ा गहन है, कठिन है। यदि सरल है तो इतना सरल कि दो पंक्तियों में उत्तर आ जाय। और कठिन है तो इतना कि पोथे रँग डालने पर भी निवृत्ति नहीं।"

"बेशक महाराज (दीनबंधु हाथ जोड़कर बोले) ऐसा ही है। बड़े बड़े पंडितों को मैंने सिर मारते देखा है फिर मैं बिचारा किस गिनती में? परंतु आप जैसे महात्मा की सूत्र रूप दो पंक्तियाँ ही मेरे लिये बहुत हैं।"

"अच्छा बहुत हैं तो भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने गीता में धनु-र्धर अर्जुन को जो उपदेश दिया है उसका सार, राम राम! सार का क्या सार हो। वेदों का सार तो गीता ही है। अस्तु, मर्म यही है कि रागद्वेष छोड़कर अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल कर्म करना, उसके फल की आकांक्षा छोड़ देना और हम उसके कर्ता नहीं हमारे कान पकड़ करा लेनेवाला कोई और ही है, परमात्मा है। बस यही है। इसमें कर्त्तव्यपालन की शिक्षा है। भगवान् ने अर्जुन की कायरता छुड़ाकर उसे

कर्त्तव्यपरायण बनाने के लिये कौरव जैसे प्रबल शत्रुओं का संहार करवाया है, और विराट् दर्शन से दिखला दिया है कि इसका कर्ता मैं और तू केवल निमित्त है।"

"हाँ महाराज, इतने से में तीनों के प्रश्नों का सूत्र रूप से सार आ गया। परंतु महाराज, आजकल हम सांसारिक जीवों की बड़ी दुर्दशा है। गृहस्थाश्रम का निर्वाह महा कठिन है।"

"बाबा, गृहस्थों में तो हजारों अच्छे भी मिलेंगे। दुनिया-दारी के बोझे से दबे रहकर वे कुछ करते कराते भी हैं किंतु साधु रूप धारी नर-पिशाचों की वास्तव में दुर्दशा है। उनमें भले बिरले और बुरे बहुत हैं। जब पेट भर उन्हें खाने को मिल जाता है तब बुराई ही बुराई सूझती है। जिनका भिक्षा से गुजारा होता है वे तो बिचारे फिर भी कुछ हैं किंतु देखो ना इन लाखों रुपए के धन-सम्पत्तिवाले मठाधीशों को! इनमें दाताओं के उद्देश्य के अनुसार परोपकार करनेवाले कितने हैं? हाँ यदि वेश्या नचानेवालों को ढूँढ़ने जाओ तो दस बीस मिल सकते हैं। परमेश्वर इन्हें अब भी सुबुद्धि दे। अब भी ये लोग भगवत्सेवा में, विद्या-प्रचार में और परोपकार में अपना तन मन धन अर्पण करें। भैया, दुनिया का उपकार जितना एक स्वार्थत्यागी साधु से हो सकता है उतना सौ गृहस्थों से नहीं क्योंकि उन बिचारों को कुटुंब-पालन से फुरसत नहीं और हमें ब्रह्मविचार और परोपकार के सिवाय कुछ काम नहीं।"

इस तरह बहुत देर तक इधर उधर की बातें होती रहीं, बीच बीच में वही कभी ज्ञान, कभी वैराग्य और कभी भक्ति का निरूपण होता रहा और ऐसे गुरू महाराज का बहुत सा समय लग जाने पर लज्जित होते होते उन्हें साष्टांग दंडवत् प्रणाम करते, उनसे शुभाशिष लेते लेते ये लोग लौट आए। छोटे चेले पूर्णानंद की जबानी पंडित प्रियानाथ को मालूम हो गया इन्होंने रूप रंग से भी जान लिया कि भगवद्दानंद ही कांता-नाथ के श्वसुर हैं और चातुर्मास्य भर उन्होंने मौन व्रत धारण किया है। अनेक मौनी बाबा जबान न हिलाने पर भी, सिर हिलाकर, हाथ पैर हिलाकर और आँखें नचाकर अपने मन का भाव दूसरों को समझा देते हैं, जो चाहे सो मांग लेते हैं और कितने ही "गूँ गूँ गूँ गूँ" करके अर्द्धस्फुट शब्दों से अपना काम निकाल लेते हैं किंतु यह बिलकुल चुप, निश्चेष्ट बैठे रहते हैं। ऐसे बैठे रहते हैं मानो समाधि चढ़ाने का अभ्यास करते हों। अस्तु प्रियंवदा से भी मौका पाकर नेत्रों के संकेत से पति को जतलाए बिना न रहा गया कि "यह पूर्णानंद वही साधु हैं जिन्होंने बूढ़ी माँ के सामने मुझसे कहा था कि तू काशी आकर यदि हमारे गुरू के दर्शन करेगी तो अवश्य तेरी मनोकामना सिद्ध होगी। बस महात्मा के दिए हुए इस प्रसाद से ही मनोकामना की सिद्धि है।"

तीनों पंडितों का उत्तर से जैसे संतोष हुआ वैसे उन्हें आश्चर्य भी कम नहीं हुआ। इस विषय में तीनों में परस्पर

बातें भी बहुत देर तक हुईं। तीनों ने अपने मन में और कभी एक दूसरे से कहा भी कई बार कि "यह महाराज योगबल के बिना कैसे जान गए कि हम क्या प्रश्न करेंगे, कदाचित् दुनियादारी का सवाल हो तो कुछ अटकल भी लगा लेते।" खैर मकान पर जब पहुँचे तब इन लोगों के आश्चर्य का पारावार न रहा। किवाड़ खोलते ही चौखट के भीतर से वे ही दोनों अशर्फियाँ जो गंगा में डाली गई थीं खन्न खन्न करती हुई धरती पर गिरीं। बस यह चमत्कार देखकर ज्यों ही पंडितजी भागे हुए वरुणा गुफा पर फिर उन महात्माओं के दर्शन के लिये गए तो वह पर्णकुटी शून्य थी! बस हाथ मलते, पछताते और अपनी बुद्धि को कोसते रह गए। प्रारब्ध को दोष देकर उन्होंने संतोष किया।

इस तरह इनकी यात्रा समाप्त हुई। काशी आने से यद्यपि इन्हें कष्ट भी कम न हुआ परंतु भगवान् भूतभावन के अनुग्रह से, भगवती गंगा की कृपा से और पंडित पंडितायिन के इष्ट बल से महात्मा ने वह फल ही ऐसा दिया कि उनका आशीर्वाद सच्चा हो गया। थोड़े ही काल में प्रियंवदा की आकृति से विदित हो गया कि उसका पेट भारी है। उसने यदि लज्जा से न कहा तो न सही किंतु उसके मुख के भाव ने उसके मन के भाव की चुगली खा दी।

अस्तु समस्त देवों सहित काशी को और पंडित दीनबंधु को प्रणाम कर पार्टी वहाँ से बिदा हो गई।

प्रकरण—४१

व्यापार पर प्रकाश

पंडित, पंडितायिन, गौड़बोले, बूढ़ा, बुढ़िया और लड़का ये सब काशी से गया के लिये रेल द्वारा बिदा हो गए। पंडितायिन चाहे महात्मा का प्रसाद पाकर आनंद के मारे फूली अंग नहीं समाती थीं, चाहे प्रसव-वेदना के भय से कई बार चिंता भी बहुत होती थी और चाहे "जिसने दिया है वही रक्षा भी करेगा।" यों कहकर अपना मन भी समझा लिया करती थीं किंतु पंडित प्रियानाथ को न तो इस बात की आशा होने का हर्ष ही था और न घुरहू से दारुण दुःख उठाने का शोक। जब प्रियंवदा ने इशारे से आशा जतलाई तब—"होगा! दुनिया के धंधे हैं। अभी से क्या ठिकाना है? न भी हो, तेरा भ्रम ही निकले। और हो भी तो जीवित रहे। जीकर कुपूती करे। बड़ों का नाम डुबोवे! क्या भरोसा?" कहकर उसके हर्ष को दबा दिया। जब उसने प्रसव-वेदना का भय याद करके अपने मन की घबराहट बतलाई तब "सर्वत्र, सर्वदा रक्षा करनेवाला परमात्मा है। अभी से घबड़ा घबड़ाकर कहीं अपना शरीर न सुखा डालना!" कहते हुए उसको संतुष्ट किया और जब वह घुरहू के अत्याचारों को याद करके रोने लगी तब—"बावली अब क्यों घबराती

है ? परमेश्वर सहायक है। उसने ही तुझे सुबुद्धि दी, उसने ही पंडितजी को प्रेरणा कर तेरी रक्षा कर दी।" कहकर उसे ढाढ़स दिला दिया। वह बोले—

"इन बातों को भूल जा। ऐसी ऐसी बातें याद रहने से, इनका बार बार स्मरण होने से गर्भ पर बुरा असर पड़ेगा, यहाँ तक कि बालक का रूप रंग ही घुरहू का सा हो सकता है। तब लोग नाहक तेरा नाम धरेंगे।"

"जाओ जो ! ऐसा मत कहो। उस निपूते का मेरे सामने नाम मत लो ! थू थू ! वैसा बालक हो जाय ? राम राम ! मैं मर मिटूँ ! परंतु क्या उसको याद करने ही से ऐसा हो सकता है ? मेरी समझ में नहीं आता ! क्योंकर हो सकता है ?"

"हाँ हो सकता है ! विद्वानों ने अनुभव करके देख लिया है। तुझे भी (हँसकर) तजुर्बा करना है तो कर देख। अवसर भी अच्छा है। फिर घुरहू के बेटे पनारू !......" बस इतना पति के मुख से निकलते ही—"बस बस बहुत हो गया। क्षमा करो। आगे न कहो। नहीं तो मैं अपनी जान दे डालूँगी!" कहती हुई उनके गले लगकर रोने लगी। "अरी पगली रोती क्यों है ? मैंने तो योंही हँसी में कह दिया था।" कहकर पंडितजी ने उसका समाधान किया। तब उसने फिर कहा—

"निगोड़ी ऐसी हँसी भी किस काम की ? आपकी हँसी और मेरी मौत ! तुम्हारी एक हँसी से तो मैं पहले ही मरी जाती हूँ ! उसने तो मुझे पहले ही कहीं मुँह दिखलाने लायक

नहीं रखा ! उस हँसी के लिये तो छोटे भैया को मेरी चाल-चलन पर अब तक संदेह ही बना हुआ है। और जरा सोचो तो सही। इन पंडितजी महाराज ने ही क्या समझा होगा ?"

"नहीं ! इनको मैंने समझा दिया। असली बात कह दी। जब घर पहुँचेंगे तब छोटे से भी कह देंगे। फिर ?"

"फिर क्या ? कुछ नहीं ! परंतु यह तो बतलाओ कि उस दिन जब पंडितजी ने इस बात का प्रसंग छेड़ा तब टाल क्यों दिया ? उसी समय स्पष्ट कर दिया होता ?"

"नहीं किया। हमारी मौज ! उसका कुछ कारण था।"

"अच्छा कारण था तो तुम्हारी इच्छा। न कहो। बद-नामी तो तुम्हारी भी है। 'है इन लाल कपोल व्रत कठिन नेह की चाल, मुख सो आह न भाखिये निज सुख करो हलाल।' अच्छा न कहिए।" इस पर—"अरी बावली इतनी घबड़ा उठी ! अच्छा तू आग्रह करती है तो घर पहुँचते ही छोटे से कह देंगे, पाँच पंचों में कह देंगे, सभा सोसाइटी में कह देंगे और अखबारों में छपवा देंगे। बस हुआ !"

"अच्छा जाने दो इस बात को। और प्रसंग छेड़ो। नहीं कहना चाहते हो तो ऐसा जिक्र छेड़ दो जिससे मेरा जी बहल जाय !"

"खैर ! तैंने तो काशी आकर फायदा उठा ही लिया। तेरी वर्षों की हाय हाय मिट गई परंतु क्या मैं यहाँ से रीते हाथों जाऊँ ? मैंने तुझसे भी अधिक लाभ उठाया है। तेरे

लाभ में तो, भगवान् न करे, विघ्न भी पड़ सकता है किंतु मेरा लाभ चिरस्थायी है, अमिट है। उसे न कोई चुरा सकता है और न छीन सकता ”

“सो क्या? कहो तो? आज तो बड़ी पहेली बुझा रहे हो।”

“भगवान् शंकर के दर्शनों का, भगवती भागीरथी के स्नान का और पंडितजी के, महात्मा के आशीर्वाद का। अहा! काशी में आकर भी बड़ा ही आनंद रहा। यह आनंद अलौकिक है, स्वर्गीय है, वर्णनातीत है। यदि भक्ति का साधन हो सके तो स्वर्ग भी इसके आगे तुच्छ है। आँखों के सामने चित्र मात्र खड़ा हो जाना चाहिए। अपने आपको भूल जाना चाहिए। बस आत्म-विस्मृति में ही लक्ष्य की प्राप्ति है।”

“अच्छा, गयाजी आ पहुँचे। चलिए। उतरिए।” कहकर प्रेम-विह्वल भक्ति-मग्न पति को प्रियंवदा ने चिताया और कुलियों के माथे बोझा रखवाकर गाड़ियों में सवार हो टिकने की जगह हमारी यात्रा-पार्टी जा पहुँची। काशी और गया के बीच में केवल एक बात के सिवाय कोई उल्लेख करने योग्य घटना नहीं हुई। वह भी कोई विशेष आवश्यक नहीं किंतु संभव है कि यदि उसे न प्रकाशित किया जाय तो लोग कह उठें कि पंडितजी एक तीर्थ छोड़ गए।

खैर! ये लोग बीच में उतरकर पुनःपुना गए। गया श्राद्ध के लिये जानेवालों को जब पुनःपुना में उतरकर अवश्य श्राद्ध करना पड़ता है तब ये भी उतरे तो आश्चर्य क्या?

आश्चर्य न सही किंतु लोग कहते हैं कि विज्ञान के बल से अँगरेजों ने जल, वायु, अग्नि और इंद्र को वश में कर लिया है। मैं कहता हूँ केवल इनको ही क्यों? हमारे तीर्थ भी उनके हुक्मीबंदे बने जाते हैं। इसका उदाहरण यही पुनः-पुना है। ज्यों ज्यों रेलवे लाइनें बनती जाती हैं त्योंही त्यों मदारी के साथ बंदर के समान पुनःपुना भी रेल के साथ खिंचा चला जाता है। बाँकीपुर से गया जानेवालों के लिये पुनःपुना अलग और काशी से जानेवालों के लिये अलग।

अस्तु गयाजी में पहुँचकर श्राद्ध का कार्य आरंभ करने से पूर्व पंडित प्रियानाथ के पुरोहित और पंडित दीनबंधु के सगे मा-जाए भाई पंडित जगद्बंधु की भी अवश्य प्रशंसा कर देनी चाहिए। वह भाई के समान ही सज्जन थे, पंडित थे, अच्छे कर्मकांडी थे, यात्रियों को, यजमानों को सतानेवाले नहीं थे और बड़े ही अल्पसंतोषी थे। अपने बड़े भाई को पिता के समान मानकर उनकी सेवा करते थे। पंडित प्रिया-नाथ ने उनको अच्छा ही दिया और जो कुछ इन्होंने दिया उन्होंने अतीव संतोष के साथ ले लिया। उन्होंने जाने से एक दिन पहले इस यात्रा-पार्टी को चिता दिया था कि—

"श्राद्ध में जिस सामग्री की अपेक्षा होती है उसे काशी से ले जाना। गयाजी में अच्छी नहीं मिलती।"

इसी परामर्श के अनुसार पार्टी ने सारा सामान साथ बाँध लिया और बाँध लेने में अच्छा ही किया क्योंकि जब

इन्होंने गया में जाकर उस सामग्री की दुर्दशा देखी तब घृणा से, क्रोध से इनका हृदय तप उठा। इन्होंने देखा कि श्राद्ध में प्रदान किए हुए जौ के आटे के पिंडों को लोग सुखाकर फिर आटा तैयार कर लेते हैं। वह आटा भी अच्छे के साथ फिर पिंड बनाकर श्राद्ध करने के लिये बेचा जाता है। केवल इतना ही क्यों किंतु पिंड फल्गू में नहीं डालने दिये जाते, गौओं के मुख में से छीन लिये जाते हैं और कितने ही भूखे भिखारी कच्चे पिंडों को छीनकर भी खा जाते देखे गए हैं। इस घटना को देखकर इनका मन बिलकुल खिन्न हो गया। बेशक सत्परामर्श देने पर जगद्बंधु को धन्यवाद दिया गया।

इसके अतिरिक्त एक और बात वहाँ देखने में आई। देखने में ही क्यों इन्हें उसका निशाना भी बनना पड़ा। जिस जगह ये लोग टिके थे वहाँ पर इनके डोल डौल से, रहन सहन से मालदार समझकर सौदा बेचनेवालों का इनके पास ताँता लग गया। ऐसे फेरीवाले आगरे में बहुत आते हैं, काशी में भी आते हैं किंतु इन लोगों ने इन्हें सचमुच ही दिक कर डाला। प्रयाग में जैसे ये भिखारियों से सताए गए थे वैसे ही यहाँ इन लोगों से खरीदारों की हजार इच्छा न हो, वे चाहे जितना मना करते जायँ, वे चाहे इन फेरीवालों को झिड़कें, फटकारें भी परंतु उन्हें अपनी गठरी फैलाकर सामान दिखाने से काम। एक आया, दो आए, दस आए और बात की बात में मकान भर गया। अब यदि यात्रियों की कोई गठरी ले गया

तो क्या और चौका छू गया तो क्या! झूठे भी परले सिरे के। एक चीज का मूल्य १०) रुपया बतलाया। ग्राहक से एक बार दो बार दस बार खरीदने का आग्रह किया, उसने यदि नाहीं की तो उसकी कुछ न सुनी। उसने यदि वहाँ से उठा देना चाहा तो उठे कौन? अंत में उसने झुँझलाकर उस चीज का डेढ़ रुपया कह दिया क्योंकि बेचनेवाला कुछ न कुछ कीमत सुने बिना टलनेवाला नहीं। लाचार यात्री को अपना पिंड छुड़ाने के लिये कुछ कहना पड़ा और बेचनेवाला थोड़ी सी, झूठमूठ आना कानी दिखाकर डेढ़ में दे गया, किंतु सँभाला तो उसमें बारह आने का माल। बस एक बार ठगाकर पंडितजी को शिक्षा मिली तब से इन्होंने वहाँ चीज खरीदने की कसम खाई और जोश में आकर कह भी दिया कि "ऐसे ऐसे बेईमान देशशत्रुओं की बदौलत भारतवासी अन्न बिना तरसते हैं, यहाँ का व्यापार धूल में मिल रहा है।" वह फिर कहने लगे—

"बेईमानी का भी कहीं ठिकाना है? बिचारे गया को ही क्या दोष दें? देश भर बेईमानी से भर गया है। ठगों ने, मूर्खों ने और स्वार्थियों ने प्रसिद्ध कर दिया है कि झूठ बोले बिना व्यापार हो ही नहीं सकता। ऐसे पुराने घाघों को ही क्या कहा जाय, स्वदेशी के नाम से क्या कम बेईमानी होती है। देश के दुर्भाग्य से ऐसे अनेक नर-पिशाच विद्यमान हैं जो स्वदेशी की दुहाई देकर विदेशी चीजों से प्रजा को ठगते हैं। विलायती घृणित, अपवित्र और अशुद्ध चीनी देशी के नाम से

बेची जाती है, विलायती सामान का ट्रेडमार्क बदलकर देशी बना लिया जाता है अथवा देशी नामधारण कराकर विलायत से ही बनवा मँगवाया जाता है। जिन लोगों का सिद्धांत ही यह है कि झूठ के विना व्यापार चल नहीं सकता उनके यहाँ यदि दूने, चौगुने, अठगुने दामों पर ग्राहक ठग जावें तो अचरज क्या? माल में बेईमानी, तोल में बेईमानी, मोल में बेईमानी। जहाँ देखो वहाँ बस केवल—"बेईमानी, तेरा आसरा!" जब देश की ऐसी खोटी दशा है फिर उन्नति का वास्ता क्या? कर्म तो हमारे रौरव नरक में जाने योग्य और स्वप्न देखें स्वर्ग जाने का! यह एकदम असंभव है। तिस पर अपने ही पैरों से देशी व्यापार को इस तरह कुचलते हुए हम दोष युरोपियन लोगों पर डालते हैं। परंतु कहाँ है हममें उन जैसा स्वदेशप्रेम, कहाँ है हममें वैसी सत्यनिष्ठा और कहाँ है हमारी परस्पर की सहानुभूति? यदि हो तो हम उनसे कौन बात में कम हैं? भला हमें एक बार करके तो देखना चाहिए कि केवल सत्य के आधार पर व्यापार चल सकता है वा नहीं? मेरी समझ में अवश्य चल सकता है। जो लोग सत्यप्रिय हैं उनका धंधा अब भी डंके की चोट चल रहा है। कोई करके देख ले। जरूर चलेगा। "बस एक भाव और नक़द दाम" के सिद्धांत पर चाहे आरंभ में कुछ अड़चन पड़े क्योंकि जहाँ सब ही व्यापारी झूठे हैं वहाँ ग्राहकों को एकाएक विश्वास नहीं हो सकता परंतु जब थोड़े दिनों में

पैंठ जम जायगी तब सत्यवक्ता को छोड़कर ग्राहक कभी, हरगिज भी और जगह नहीं जायँगे। यों ही खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ सकता है। अब की बार घर चलकर कांतानाथ को इसी धंधे में प्रवृत्त करना है, यदि परमेश्वर ने चाहा तो केवल सत्यनिष्ठा से अवश्य सफलता होगी। ईश्वर मालिक है।"

पंडित जी के इस तरह लेकचर को चाहे मालदार का मांस नोचकर खा जानेवाले उन गीधों ने न सुना हो—सुनने से ही क्या, उन स्वार्थांधों पर कुछ असर न पड़े तो न भी पड़े परंतु वह जो कुछ मन में आया जोश के मारे सुना गए। उन्होंने अपनी डायरी में भी कितनी बातें लिखीं। केवल यही क्यों वह जो कुछ नई बात पाते थे अपने पास लिखते जाते थे। अस्तु अब देखना है कि वह घर पहुँचकर क्या क्या करते हैं।

जो कुछ होगा देखा जायगा। अभी सब होनहार के अँधेरे में है। भूतकाल की रात्रि और होनहार की रात्रि के मध्य में वर्तमान का दिन हुआ करता है। अतीत काल का अनुभव और वर्तमान का प्रकाश दोनों ही मिलकर होनहार पर रोशनी डाला करते हैं। यही संसार का नियम है। परंतु सर्वोपरि परमेश्वर की इच्छा है। वही मुख्य है। उसके बिना मनुष्य किसी काम का नहीं। बिकुल रद्दा। निकम्मा।

प्रकरण—४२

चरित्र की दरिद्रता

"जब देश ही दरिद्री है तब बारंबार प्रत्येक तीर्थ के भिखारियों की कथा क्या गाई जाय? "बुभुक्षित: किं न करोति पापम्" इस लोकोक्ति से यदि गया के भिखारी कच्चे पिंडे को गोमाता के मुँह से छीनकर खा जाते हुए देखे गए तो इसमें अचरज ही कौन सा हो गया? जिस देश में अकालपीड़ा से विकल होकर बिचारे अपने स्त्री बालकों को बेच दें, जिस देश के नर नारी भूखों मरते अपने प्यारे धर्म को छोड़कर ईसाई मुसलमान हो जाते हैं, जहाँ के दीन दुखिया मेहतरों में मिलकर जूठन खाते देखे गए हैं, जहाँ के स्त्री पुरुष अन्न बिना तरस तरसकर जरा सा अकाल पड़ते ही अपने प्यारे प्राणों को यमराज के हवाले कर देते हैं वहाँ यदि बत्तीस करोड़ प्रजा में छप्पन लाख पेशेवर भिखारी हुए तो क्या हुआ? इसलिये कहना पड़ेगा कि केवल छप्पन लाख ही भिखारी हों सो नहीं। जिन लोगों ने "एक लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत्" का मंत्र ग्रहण कर लिया है उनकी संख्या, यदि ठीक गणना हुई हो तो छप्पन लाख हो सकती है किंतु मेरी समझ में इस देश के बत्तीस करोड़ निवासियों में से कम से कम बाईस करोड़, नहीं अट्ठाईस करोड़ भिखारी होंगे।

यदि इनकी संख्या इतनी अधिक न होती तो छप्पन के दारुण दुर्भिक्ष में गवर्मेंट के कृपापूर्वक स्थापित किए हुए अकाल पीड़ा से प्रजा की रक्षा करने के कामों पर एक करोड़ आदमी न टूट पड़ते, छप्पन के अकाल में लाखों आदमी अपने प्यारे प्राणों को क्षुधा की आग में होमकर पृथ्वी का भार न उतार देते। भारत में ९० प्रति सैकड़ा किसान हैं और प्रायः इन सबकी यही दुर्दशा है। खैर इनका तो अकाल के समय गवर्मेंट की सहायता से पेट पालने का हियाव भी हो गया है परंतु मुशकिल तो औसत दर्जे के आदमियों को है। वे न तो भीख ही माँग सकते हैं और न उनकी इनी गिनी कमाई से उनके कुटुंब का पालन होता है। बत्तीस करोड़ संख्या में एक करोड़ परदेशी और एक करोड़ खुशहाल भारतवासियों को छोड़कर जिधर नजर डालिए उधर इसी तरह के आदमी अधिक दिखाई देते हैं। इसी लिये कहना चाहिए कि यहाँ कोई पेशेवर भिखारी हैं, कोई जरा सी आफत आने से अथवा आते ही भिखारी बन गए हैं और कोई दरिद्रता की चक्की में दिन रात पिसे जाने पर भी मोछों में चावल लगाकर अपनी दुर्दशा को लोकलज्जा से छिपाते हैं।"

"आपने जो कुछ कहा वह धन की दरिद्रता का लेखा है। संख्या में चाहे कहीं न्यूनाधिक हो परंतु लेखा खासा तैयार हो गया। परंतु हाँ इतना अवश्य है कि केवल धन की दरिद्रता से देश कंगाल नहीं हो सकता। इस दरिद्रता को दूर करने के

लिये वृटिश गवर्मेंट जैसी सरकार तैयार है और यहाँ के प्रजा-हितैषी सज्जन इस काम के लिये जब जी तोड़ परिश्रम कर रहे हैं तब परमेश्वर अवश्य किसी दिन कृपा करेगा। मार्ग अच्छा पकड़ लिया गया है और आशा अच्छी ही होती है।"

"हाँ यह ठीक है परंतु महाराज अधिक भय चरित्र की दरिद्रता का है। सचमुच ही चरित्र की दरिद्रता हमारा सर्व-नाश कर रही है। उसी की बदौलत हम धन के दरिद्री हैं, मन के दरिद्री हैं और सर्वस्व के दरिद्री हैं। उस दिन वरुणा गुफा पर उन महात्मा जी ने यथार्थ कहा था कि एक साधु से जितना परोपकार हो सकता है उतना सौ गृहस्थों से नहीं हो सकता। इतना इसमें और बढ़ा देना चाहिए कि वह व्यक्ति चाहे फकीर हो, चाहे लखपती हो, चाहे गृहस्थ हो अथवा संन्यासी हो, चाहे राजाधिराज हो अथवा दीन किसान हो, उसे सच्चरित्र अवश्य होना चाहिए। उसमें आत्मविसर्जन की शक्ति होनी चाहिए, उसकी विचार शक्ति (विल पावर) उत्कृष्ट होनी चाहिए और सबसे बढ़कर यह कि वह सारा-सार का विचार रखता हो और उस पर ईश-कृपा भी होनी आवश्यक है।"

"परंतु साहब, आपने इस यात्रा में एक दीनबंधु पंडित को छोड़कर कितने आदमी ऐसे देखे? चरित्र की भ्रष्टता के उदाहरण पग पग पर मौजूद हैं। आप निरंतर जगह जगह देखते चले आए हैं। आप प्रति दिन देखते रहते हैं।"

"वास्तव में सच्चरित्रता का दिवाला निकला जा रहा है। इसका दोष अँगरेजों पर नहीं, हम देशियों पर है। और उपाय भी हमारे हाथ में है। धर्म-शिक्षा के नाम पर लोग कानों के पर्दे फाड़ रहे हैं किंतु यह शिक्षा स्कूलों में, पाठशालाओं में, कालेजों में नहीं मिल सकती। थोड़ा बहुत भला भले ही हो जाय किंतु इस काम के लिये ये सब रद्दी हैं, निरर्थक हैं। इसकी शिक्षा का आरंभ गर्भाधान से होना चाहिए। अच्छे रज वीर्य से शुभ दिन में सच्चरित्र माता पिता का संयोग हो, उस दिन दंपती दुःख, चिंता, भय, श्रम, क्रोध, मोहादि से रहित हों और गर्भ में बालक की सुखाद्य तथा सुपेय पदार्थों के सेवन से रक्षा की जाय, माता को विकारों से बचाया जाय। बालक पैदा होने पर पलने ही से, माता की गोद में से ही उसकी शिक्षा का आरंभ किया जाय। उसे बाहर के समस्त कुसंस्कारों से बचाकर वर्णाश्रम के अनुकूल शिक्षा देकर, शास्त्र विधि से षोडश संस्कारों का संस्कारी बनाया जाय। ठेठ से उसे सत्यवादी, दृढ़प्रतिज्ञ, सज्जन, पापभीरु और भगवद्भक्त बनाया जाय। यदि इन सब बातों पर माता पिता का पूरा ध्यान रहे तो अवश्य बालक सच्चरित्र होगा। वह आत्मविसर्जन का व्रती होगा। उससे अवश्य परोपकार, देशोपकार होगा। बस ऐसे ही लोगों की आवश्यकता है। फिर ऐसे बालक की रक्षा कुशिक्षा से, खोटी संगत से और बुरे संस्कारों से हो सके तो वह निःसंदेह

लाभ पावे। जन्म से सोलह वर्ष तक उसके लिये सीखने का जमाना है। पच्चीस वर्ष तक उसे 'गधा पचीसी' से बचाना चाहिए। फिर उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।''

''बेशक सत्य है। परमेश्वर ने आपको अवसर भी दिया है। बस आज से ही इस कार्य का अनुष्ठान आरंभ कर दीजिए। इस कार्य के उपयुक्त जो गुण दंपती में होने चाहिएँ वे सब आपकी जोड़ी में विद्यमान हैं। आप अवश्य कीजिए।''

इस तरह रात्रि के दस बजे, अपने अपने बिछौने पर बैठे हुए गौड़बोले और प्रियानाथ के वार्तालाप के अंत में गौड़बोले के मुख से अंतिम वाक्य सुनकर पंडित जी ने ''अच्छा महाराज, खूब ! आपने तो मुझ पर ही डिगरी कर दी। 'जो बोले सो घी को जाय' वाली कहावत चरितार्थ कर दी।'' कहते हुए लज्जा से मुसकुराते मुसकुराते अपना मस्तक झुका लिया किंतु उस समय प्रियंवदा के मन में जो भाव पैदा हुए वे वास्तव में वर्णनातीत थे। हो सकता है कि उस समय की धुँधली रोशनी में अपने हृद्गत भावों को पति के हृदय में पहुँचा देने के लिये और प्राणेश्वर के भावों को ले आने के लिये प्यारी के मानसिक टेलीफोन की बिजली इधर से उधर और उधर से इधर चक्कर लगाने लगी हो किंतु सचमुच ही उसका हृदय आशा से उछल रहा था, उसकी आँखें लज्जा से मुँदी जाती थीं और यदि कोई हृदय के नेत्रों से देखने की शक्ति रखता

होता तो वह उसी समय ताड़ सकता था कि उसके लाख छिपाने पर भी उसके रोम रोम उसके मन की चुगली खा रहे थे।

अस्तु। उस दिन इस पार्टी में एक गोपीबल्लभ को छोड़कर सब ही ने तीर्थोपवास किया था। दूसरे दिन प्रातःकाल से श्राद्धारंभ समझना चाहिए। श्राद्ध के लिये सामग्री ये लोग साथ ले ही आए थे। श्राद्ध करानेवाले गौड़बोले महाशय छाया की भाँति जहाँ ये जाते थे वहाँ साथ थे ही, यदि पंडित जी ने उनको साथ न लिया होता तो वास्तव में यहाँ पर भी इनकी वही दुर्दशा होती जो इन्होंने प्रयाग में यात्रियों की देखी थी। वही लंठाधिराज ब्राह्मण, वही पचास चालीस आदमियों के जमघट में मिलकर एक तंत्र से ब्राह्मण, बनियों, नाई, जाटों का एक साथ श्राद्ध कराना और वही "तेरे बाप के, उसके बाप के, उसके दादा के" गगनभेदी उच्चारण के साथ साथ तालियों की फटकार। गया के गुरुजी महाराज ने भी इनको पढ़ा लिखा विद्वान, धनवान् और प्रतिभाशाली समझकर एक अच्छा ब्राह्मण साथ कर दिया था। गौड़बोले के निरीक्षण में उसी ने श्राद्ध करवाने का काम किया। जहाँ जहाँ वह देवता भूलता गया वहाँ वहाँ गौड़बोले ने सँभाला। उन्होंने आप भी श्राद्ध किया और पंडित जी के कार्य में भी सहायता की। इस तरह ये लोग मूर्ख देवता के अड़ंगे से बच गए और उनके काम में किसी प्रकार का विघ्न भी न पड़ने पाया।

पंडित जी उन लोगों में से नहीं थे जो श्राद्ध करने में भी घुड़दौड़ खेलें अथवा डाक गाड़ी दौड़ा दें। हजारों आदमी सैकड़ों ही रुपया रेलवालों को देकर यहाँ आते हैं और कुछ किया कुछ न किया करके श्राद्ध को सरपट दौड़ाकर भागे हुए आगे चले जाते हैं। एक दिन में गया श्राद्ध समाप्त, जोर मारा तो तीन दिवस और जो यहाँ साल दिन ठहर गए तो मानों कमाल कर दिया। अपने पूर्व पुरुषों को अहसान के बोझे से लाद दिया। किंतु नहीं। पंडित जी ने ठीक त्रिपक्षी, सत्रह दिनों में शास्त्रविधि से सांगोपांग गया श्राद्ध किया। यहाँ श्राद्ध करने के लिये जो स्थान नियत हैं उन्हें वेदियाँ कहते हैं। फल्गू नदी में, विष्णुपद में, उसके निकटवर्ती विशाल भवन में, प्रेतशिला पर, बोध गया में और अक्षयवट पर श्राद्ध करना होता है। गुरु जी के सुफल बोलने का यही स्थान है। पंडित जी ने सब ही वेदियों पर पृथक् पृथक् भक्तिपूर्वक श्राद्ध किया। और किया तो आश्चर्य भी क्या? उनके जैसा धार्मिक भी न करे तो करे कौन!

हाँ! भीड़ की धक्कामुक्का में, यात्रियों की ठसाठस के मारे जब श्राद्ध-स्थल पर तिल रखने को भी जगह न मिले और जब गया तीर्थ नरमुंडों से भर जाय तब श्राद्ध करने में श्रद्धा न रहे तो आश्चर्य नहीं। श्रद्धा ही से जब श्राद्ध है तब जो कुछ करना उसे श्रद्धापूर्वक करना। इस सिद्धांत से पंडित जी ने आश्विन कृष्णपक्ष में महालय का अवसर अवश्य बचा लिया।

वह गया गए तब इस महापर्व को बचाकर गए। उन्होंने ठान लिया कि "महालय के महापर्व का माहात्म्य अधिक है सही परंतु श्रद्धा भक्ति से करने का फल उससे भी अधिक है।" और इसका फल भी उनके लिये अच्छा ही हुआ। जिन दिनों ये लोग गए, गया में इने गिने सौ दो सौ यात्रियों के अतिरिक्त भीड़ भाड़ का लेश नहीं था। बस इस कारण किसी जगह इन्हें श्राद्ध करने में कितनी ही देरी क्यों न लग जाय इनसे तकाजा करके इनके काम में विघ्न डालनेवाला कोई नहीं, यदि सामान उठाने में ये ढिलाई दिखलावें तो इनका बँधना बोरिया फेंकनेवाला कोई नहीं और जगह खाली करने के लिये इन्हें रूखी सूखी सुनानेवाला कोई नहीं।

परंतु उन दिनों पंडित जी की, उनके साथियों की छटा भी देखने योग्य थी। प्रियंवदा के मन ही मन मुसकुराने के लिये, मन ही मन दाढ़ी मोंछ बिना प्राणनाथ का अपना सा चेहरा पाकर हँसने को पंडित जी का चेहरा बिलकुल सफाचट है। पंडित जी के शुभ्र और सुदीर्घ ललाट पर श्वेत चंदन का विशाल तिलक झलक रहा है। कमर में स्वच्छ धोती और कंधे पर स्वच्छ उत्तरीय के सिवाय वस्त्र का नाम नहीं। अँगुलियों में दर्भ की पवित्री और एक हाथ में ताम्र पात्र और दूसरे में ताम्र कलश। पैरों में आज न बूट है, न जूता है, यहाँ लों कि खड़ाऊँ तक नहीं। आठ पहर में एक बार भोजन और भूमि शयन। प्रियंवदा भी रेशमी मुकटा पहने

जहाँ वह जाते हैं छाया की नाईं साथ रहती है। श्राद्ध संपादन करने में दोनों का काम बँटा हुआ है। दोनों ही अपने अपने कार्य पर डटे हुए हैं। शास्त्रीय कार्य से निवृत्त होकर केवल आत्मा को भाड़ा देने के लिये पंडित जी बाजार से मुन्यन्न, हविष्यान्न, खोजकर लाते हैं और ऐसे मोटे झोटे पदार्थों से बढ़िया बढ़िया सामग्री तैयार करके प्रियंवदा दिखला देती है कि "सैव साध्वी सुभक्तश्च सुस्नेहः सरसोज्ज्वलः। पाकः संजायते यस्याः करादप्युदरादपि" —इस लोकोक्ति के अनुसार हाथ के बनाए पाक की बानगी तो आप देख ही रहे हैं और उदर के पाक की बानगी देखने के लिये अभी नौ महीने तक राह देखते रहिए। इस तरह पंडित जी जब अपनी गृहिणी को साथ लिए हुए विधि संपादन में दत्तचित्त हैं तब बिचारा गौड़बोले लाचार है। उसके स्त्री नहीं, पुत्र नहीं और आशा तक नहीं। शास्त्रीय कार्य संपादन करने में जहाँ अर्द्धांगिनी की अपेक्षा होती है वहाँ अभाव में कुश की गृहिणी बनाकर काम निकाल लेने की आज्ञा है किंतु यह केवल दस्तूर पूरा करना ही है। यदि चित्र लिखित लड्डू जलेबी पूरी कचौड़ी और हलुवा मोहनभोग दर्शक का पेट भर सकते हों, यदि उन्हें देखते ही डकारें आने लगें तो खैर कुश की गृहिणी ही सही। परंतु गौड़बोले इस बात से असंतुष्ट नहीं है। पंडित पंडितायिन की जोड़ी देखकर उसका मन कुढ़ता हो सो नहीं। वह अंतः-करण से आशीर्वाद देता है कि "भगवान् करे यह जोड़ी चिरं-

जीविनी हो।" वह अपनी जैसी कुछ दशा है उसमें मस्त रहने-वाला आदमी है बूढ़े बुढ़िया आजकल अपना कर्तव्य पालन होता देखकर, पितृ-ऋण चुकता देखकर धीरे धीरे शास्त्रीय कार्य संपादन होने से हड़बड़ी न पड़ती देखकर आनंद में हैं। वे पंडित जी का साथ पाकर वारंबार उन्हें धन्यवाद देते हैं। किंतु गोपीवल्लभ को इन झगड़ों से कुछ मतलब नहीं। श्राद्ध के काम में भूखों मरते मरते चाहे औरों को साँझ ही क्यों न पड़ जाय परंतु वह दोनों वार डटकर खा लेता है और मा बाप की बंदगी में भोला कहार से वदावदी करने को तैयार रहता है।

प्रकरण—४२

गयाश्राद्ध में चमत्कार

गत प्रकरण के अंत में भोला कहार का नाम देखकर पाठक महाशय अवश्य कहेंगे कि भोला को लेखक इतने दिनों भूला क्यों रहा ? किंतु यह न समझिए कि वह कहीं चला गया था अथवा उसका नाम और काम ही उपन्यासलेखक को याद न आया। नहीं, हुआ यों कि इस यात्रा में इतने समय तक उसने कोई काम ऐसा नहीं किया जिससे उसे याद करने की आवश्यकता पड़े। जब मालिक, मालकिन की धोती धो देने, पानी भर लाने और बरतन चौका कर देने के सिवाय वह किसी तरह लीपने थापने का नहीं था, जब उसे थके माँदे मालिक के चरण चाप देने तक में बोझा मालूम होता था और जब बिलकुल निकम्मा होने पर भी पंडित जी उसे केवल दया करके, पंडितायिन की सिफारिश से उसके बड़े बूढ़ों का गया श्राद्ध कराने के लिये ही ले आए थे तब उसके लिये कागज रँगने से लाभ ही क्या ?

गया जी की समस्त वेदियों पर श्राद्ध करते समय पंडित जी की श्रद्धा और भक्ति यदि अटल रही हो, यदि वह समय समय पर पिंड प्रदान करते करते गद्‌गद् हो गए हों और यदि उनके हृदय की लेखनी ने भावना के चित्रपट पर उनके माता

पिता के चित्र लिखकर मन ही मन उन्हें दर्शन देने के लिये प्रत्यक्ष ला खड़े किए हों तो कुछ आश्चर्य नहीं, क्योंकि उनकी विचारशक्ति उनका मानसिक बल वर्षों के अभ्यास से बहुत ही बढ़ा हुआ था, उनकी "विल पावर" साधारण न थी और जैसी थी उसका पता प्यारे पाठक गत प्रकरणों में पा चुके हैं। किंतु प्रयाग की तरह यहाँ भी एक अद्भुत घटना हुई। प्रयाग में पिंड प्रदान करते समय पाठकों ने जब इन्हें देखा तब उन्हें अवश्य बोध हुआ था कि पंडित जी नेत्र मूँद-कर, मन की आँखों से मानों किसी दूर के पदार्थ को देख रहे हैं। यहाँ प्रेतशिला पर श्राद्ध करके जब पंडित जी पिंड प्रदान करने लगे तब एकाएक इनके कानों में भनक आई—"बेटा चिरं-जीवी रहो।" इन्होंने आखें पसारकर चारों ओर देखा तो इनके साथियों के सिवाय कोई आदमी नहीं। इन्होंने सब से पूछा कि "बेटा चिरंजीवी रहो" का कहनेवाला कौन था?" तो सबके सब ने अपने अपने कानों पर हाथ धरकर उसके सुनने से भी इनकार किया। बस "होगा! यों ही मुझे कुछ वहम सा हो गया था।" कहकर इन्होंने बात टाल दी किंतु जो बात इनके हृदय में एक बार बैठ गई थी उसका निकलना कठिन था। खैर! दूसरी बार की घटना इससे भी बढ़कर हुई। जब विष्णुपद पर श्राद्ध करते हुए पिंड भेट करने का अवसर आया इन्होंने पिता पितामहादि के माता-पितामही के, मातामह प्रमातामहादि के पिंड दिए, चचा, ताऊ,

भ्राता, ताई के और यावत् नातेदारों को याद कर करके पिंड दिए परंतु कुछ नहीं किंतु जिस व्यक्ति का पिंड देते समय प्रयाग में इन्हें कुछ दिखलाई दिया था, जिसका पिंड देते ही प्रेतशिला पर इनके कानों में आशीर्वाद की भनक आई थी वही व्यक्ति शुभ्र धोती पहने मुसकुराता हुआ इनके सामने, चर्म-चक्षुओं के समक्ष नहीं, हृदय के नेत्रों के आगे आकर इनसे कहने लगा— "बेटा ! चिरंजीवी रहो। खूब सुख पाओ। फलो फूलो। तुमने खूब ही अपने वचनों को निबाह दिया।" यों कहते कहते वह व्यक्ति एकदम अंतर्ध्यान हो गया। वहाँ के उप-स्थित मनुष्यों में से किसी ने न जाना कि क्या हुआ ? हाँ पंडित जी की आँखों से धाराएँ बहने लगीं। उन्होंने—"माता, तेरा आशीर्वाद।" कहा। लोगों ने इनका कहना अवश्य सुना और सुनकर वे चकित भी हो गए कि यह किससे बातें करते हैं, किंतु एक गौड़बोले और प्रियंवदा के सिवाय किसी को मतलब ही क्या ? गौड़बोले पूर्व संकेत को याद करके कुछ कुछ अटकल लगाने लगे और प्रियंवदा भी अपनी बुद्धि पर जोर देकर इसका कारण तलाश करने के लिये किसी उधेड़ बुन में पड़ गई।

इससे पाठक यदि समझ लें तो अच्छी बात है। वह यदि ख्याल को दौड़ावें तो पता पा सकते हैं कि यह व्यक्ति कौन था ? खैर उन्हें अधिक उलझन में न डालने के लिये मैं ही बत-लाए देता हूँ कि यह पंडित जी का पालन करनेवाली, इनके

माता पिता के समय की नौकरानी, इन्हें पुत्र से भी बढ़कर माननेवाली, पुत्रहीना, पतिहीना माता थी, उसी के अनुरोध से, उसी के आग्रह से यह गयाश्राद्ध करने निकले थे और निकले थे इसलिये कि प्रियंवदा बारंबार घर में उत्पात होने की शिकायत किया करती थी। आज इस तरह उसका मोक्ष हो जाना देखकर पंडित जी को बड़ा आनंद हुआ। वह आनंद गूँगे का गुड़ है। मैं तो भला किसी गिनती का लेखक नहीं किंतु बड़े बड़े धुरंधर विद्वान् भी हृदय के भाव को ज्यों का त्यों प्रकाशित नहीं कर सकते। अधिक से अधिक यदि जोर मारें तो कदाचित् उसके लगभग पहुँच जायँ और सो भी अपने मन की बात प्रकाशित करने में, किंतु दूसरे के मन की बात? कठिन है, असंभव है।

अस्तु, गया जी में समस्त वेदियों पर श्राद्ध करके निवृत्त हो चुकने पर अक्षयवट में सुफल बोलने की बारी आई। इनके गया-गुरु पंडित केसरीप्रसाद सिंह शर्मा पालकी में विराजकर दो तीन चपरासी, दो एक कारिंदे और दस बारह अर्दली के जवानों को लिए हुए कमर में पाजामा, शरीर पर कोट, पैरों में बूट और सिर पर फेल्ट टोपी लगाए अक्षयवट पर पहुँचे। इनके नाम के पूर्व पंडित और अंत में शर्मा देखकर पाठक यह न समझ लें कि यह कोई संस्कृत के अच्छे विद्वान् होंगे। इनकी योग्यता थोड़ी बहुत कैथी लिख लेने में समाप्त होती थी। जिनको परमात्मा ने एक की जगह

इरा पढ़े लिखे नौकर रख लेने की शक्ति दी है उन्हें पढ़कर क्या नौकरी करनी है ? यही इनकी भावना थी और भावना भी क्या थी इनके खुशामदी नौकरों ने, यार दोस्तों ने और ठगी में पराकाष्ठा को पहुँचे हुए कारिंदों ने, पालने में माता की गोद से लोरियाँ गाते समय पट्टी पढ़ा दी थी। इनके पिता ने इन्हें पढ़ाने का प्रयत्न भी बहुत किया। संस्कृत पढ़ाने के लिये पंडित, फारसी पढ़ाने के लिये मौलवी और अँगरेजी पढ़ाने के लिये मास्टर नौकर रक्खा परंतु इन्होंने एक अक्षर भी न सीखा और जो कुछ सीखा भी था सो गुरू जी के भेट कर दिया। इस तरह चाहे इनसे अपना लिखा हुआ भी अच्छी तरह न पढ़ा जाता हो किंतु मुकद्दमा लड़ाने के लिये सारा दीवानी और फौजदारी कानून इनकी जबान पर है। यह बुलबुलें लड़ाने में उस्ताद हैं, तीतर लड़ाने के लिये अवश्य बाजी पाते हैं, मुर्ग लड़ाना इनका नित्य नियम है और जब कभी मौज आती है तब भैंसे लड़ाते हैं, टट्टू लड़ाते हैं और भोंदुआ कुम्हार के यहाँ से मँगाकर गधे तक लड़ा डालते हैं। इनके चचा, ताऊ, मामा, फूफा और मौसा—यों सात घरों में आठ सात विधवाओं को छोड़कर यह अकेले ही हैं। इन्होंने विवाह भी दो तीन कर लिए हैं। दो एक घर में डाली हुई औरतों से चाहे चार पाँच लड़के लड़कियाँ भले ही हुई हों किंतु इनकी विवाहिता कुलवधुओं ने कभी स्वप्न में भी गर्भ धारण नहीं किया। इनका असली नाम यद्यपि परमेश्वर-

प्रसाद है किंतु जब यह किसी समय पहलवानी का दावा रखते थे तब इन्होंने अपने यार दोस्तों के परामर्श से अपना नाम बदल लिया था। यह यों कैसे भी बहादुर क्यों न हों किंतु जादू टोने से बहुत डरते हैं, इस कारण साईं फकीरों के, ओझाओं के और पीर पैगंबरों के नाम पर सोने में मढ़े हुए दो चार तावीज गले में अवश्य डाले रहते हैं। वहाँ का पानी लगकर इनके पैर अवश्य फूलकर हाथी जैसे मोटे हो गए हैं किंतु जब चौकड़ी में बिराजकर सिर पर मंडील बाँधे, हीरे मोती के जेवर से लदे, ढाल तलवार लगाकर बाहर निकलते हैं तब जो लोग इन्हें नहीं पहचानते उन्हें भ्रम होता है कि यह कहीं के रईस हैं। इनके नौकर चाकर यदि इन्हें बहावे देकर, धोखे देकर ठगते हैं तो कुछ पर्वाह नहीं क्योंकि बड़े बड़े राजा महाराजा इनके यजमान हैं। हाँ एक आदमी इनकी ऐसी दशा देखकर जलनेवाला भी है। वह इनकी फूफी के चचिया ससुर की लड़की का लड़का है। उसका नाम वाचस्पति है और वह जब होनहार, शिक्षित, सच्चरित्र युवा है तब किसी दिन यदि वह अपने नाम को चरितार्थ करे तो कुछ आश्चर्य नहीं। वह भी और गयावालों के समान एक गयावाल है किंतु पिता के आतंक और संस्कृत के साथ साथ सामयिक शिक्षा ने उसे इनकी तरह भटकने नहीं दिया। उसने अपनी जातिवालों को समझाकर उचित शिक्षा देने के लिये एक गयावाल स्कूल खुलवाया है, एक सभा स्थापित कराई

है और यात्रियों को आराम देने के लिये एक धर्मशाला बनवा दी है किंतु यह ऐसे कामों में एक पाई देनेवाले नहीं। वह जब इन्हें समझाता है तब यह उसे झिड़क देते हैं, गाली देते हैं और मार देते हैं।

अस्तु, पालकी पर सवार होकर गुरूजी महाराज अक्षय-वट पर पहुँचे और ऐसे समय पर गए जिससे इन्हें वहाँ बैठे न रहना पड़े क्योंकि उस दिन इनके यहाँ पहलवानों का दंगल होनेवाला था और दंगल में अभी पाँच छः घंटे की देरी होने पर भी वहाँ की सारी व्यवस्था इन्हें सँभालनी थी, क्योंकि नगर के अनेक भद्र पुरुषों को इन्होंने इस काम के लिये न्योता दिया था। जिस समय यह वहाँ पहुँचे हमारी यात्रा पार्टी श्राद्ध के काम से निवृत्त होकर इनकी राह तकती हुई बैठी थी। पहुँचने पर कोई आधा घंटा पंखा झलने के बाद इन्होंने बूट उतारे। इन्होंने नहीं, इनके दो नौकरों ने खैंचखाँचकर उतारे। इन्होंने कपड़े उतारे। स्नान के बदले मार्जन किया। मार्जन के लिये "अपवित्रः पवित्रो वा इत्यादि" मंत्रोच्चारण करने का श्रम इन्होंने उठाया हो सो नहीं। इनके साथ इस काम के लिये एक पंडित जी मौजूद थे। बस इन्होंने रेशमी जरी किनारे की धोती पहनकर तब एक बढ़िया पीतांबर कंधे पर उत्तरीय की जगह डाला। कंधे पर डालते ही एक नौकर जो पहले ही से इनकी राह देखता खड़ा हुआ था एक एक करके पुष्प मालाएँ इन्हें देता गया और यह यात्रियों के मिले हुए दोनों

हाथों में डालते गए ! जब सब लोगों को यह ऐसे धर्मपाश में बाँध चुके तब यह बड़े मृदु मुसक्यान से, मधुर स्वर से और धीरे से बोले—

"यजमान, घर से जितना विचारकर आए हो उतना भेट करो। आप हमारे अन्नदाता हो। यह सब ठाठ आप ही का है।"

"हाँ ! अगर खर्च में कमी पड़ गई हो तो कुछ चिंता नहीं। हवेली से ले सकते हो। घर पहुँचकर भेज देना। कुछ जल्दी थोड़ी ही है।" कहकर पारी पारी से गुरू जी के दो चार साथियों ने अनुमोदन किया। किसी ने गिन्नियाँ निकालीं, किसी ने रुपए निकाले और किसी ने अशर्फियाँ निकाल निकालकर उनके चरणों में ढेर कर दीं। किंतु जब गौड़बोले की पारी आई तब उसने हाथ जोड़कर कहा—

"महाराज, मैं दरिद्र ब्राह्मण हूँ। हाथ जोड़ने के सिवाय मुझसे कुछ नहीं बन सकता है। केवल पाँच रुपये हैं सो आप ले लीजिए।"

"नहीं यजमान, सिर्फ पाँच रुपए ? पाँच ही रुपयों में अपने पुरुषाओं को स्वर्ग दिलाना चाहते हो। यह कदापि नहीं हो सकता।" कहकर गुरूजी ने थोड़ी बहुत हुज्जत भी की किंतु जब प्रियानाथ ने उनको समझा दिया तब सब लोगों की पीठ ठोककर गुरू जी ने कह दिया—"भगवान् गया गदाधर आपका श्राद्ध, हमारे आशीर्वाद से सुफल करें।" बस

इतना कहते ही सब के बंधन छूट गए और गुरू जी महाराज उन्हीं वस्त्रों से केवल सिर पर टोपी रक्खे पालकी पर विराज-कर विदा हो गए। पंडित प्रियानाथ यद्यपि गुरू जी के गुण सुनकर बहुत दुःखी हो गए थे, गया में आते ही जब उन्हें इनका सब हाल मालूम हो गया तब वह वाचस्पति को अपना गुरू मानने और इन्हें छोड़ देने तक का हठ पकड़ बैठे थे और यदि वाचस्पति इस बात को स्वीकार कर लेता तो वह अवश्य ही ऐसा कर डालने में न चूकते किंतु आज गुरू जी का बर्ताव देखकर उन्हें कुछ कुछ संतोष हुआ। जब लोगों ने उनसे कहा कि "हाँ यह चाहे जैसे किंतु इनके हजार दोषों में एक प्रबल गुण यह है कि यह यात्रियों को सताते नहीं हैं।" तब पंडितजी को और भी संतोष हुआ।

यद्यपि पंडित जी ने ज्यों त्यों समय निकाल दिया परंतु वह ऐसे मनुष्य नहीं थे जो गुरू जी को उपदेश दिए बिना यों ही चले जायँ। यात्रियों के साथ अच्छा बर्ताव देखकर इन्होंने अनुमान कर लिया कि "गुरू जी वास्तव में बुरे नहीं हैं। उनके पासवाले खुशामदी ठगों ने उनको बिगाड़ रखा है और इसलिये यदि थोड़ा उद्योग किया जाय तो वह सँभल भी सकते हैं क्योंकि उनकी 'गयापचीसी' का जमाना निकल चुका है।" और वाचस्पति के कथन से प्रियानाथ को यह भी विदित हो गया था कि "शरीर की अस्वस्थता, संतान के अभाव और उमर ढल जाने के साथ साथ और और गयावालों

में उन्नति होती देखकर उन्हें कुछ कुछ घृणा भी होने लगी है। कभी यह मन ही मन पछताते भी हैं परंतु इनके संगी साथी स्वार्थवश ऐसे भाव इनके मन में ठहरने नहीं देते।" बस इन बातों को सोचकर पंडित जी साथियों के उतावल करने पर भी वहाँ ठहरे। वाचस्पति के परामर्श से अवसर निकालकर गुरू जी से मिले। और एक दिन उन्हें अकेले में पाकर गुरू जी से उन्होंने स्पष्ट ही कह दिया—

"महाराज, आप बड़ा अनर्थ करते हैं। आप ही के कुकर्मों से आपका घर बैठ गया। आपके घर में पड़ी पड़ी विधवाएँ तो आपके कर्मों को रो रही हैं सो रो ही रही हैं किंतु आपने जिन तीन महिलाओं का पाँच पंचों में हाथ पकड़ा है वे आपके होते हुए भी विधवापन भोग रही हैं। आप देखते नहीं। अपने दरिद्री यजमानों की गाढ़ी कमाई का पैसा आप कुकर्मों में लुटा रहे हैं। ये आप के इष्ट मित्र, ये आपके नौकर चाकर और ये आपकी रंडी मुंडी, सब जब तक आपके पास पैसा है तब तक के साथी हैं। आपके पूर्व पुरुष वास्तव में कमाई ऐसी छोड़ गए कि कभी आप भूखों नहीं मर सकते। परंतु जाने रहिए यह आपका धन दौलत, ये आपके संगी साथी और यह आपका ठाठ आपके साथ नहीं जायगा। आप जब पुण्य नहीं बटोरते हैं तब आप जो कुछ पूर्व जन्म का संचित लाए हैं उसे भी लुटाकर खाली हाथों जायँगे। जो इस समय आपको ठगते हैं वे

आपके मरने पर यदि आपके जीवन पर न थूकें, आपकी निंदा न करें तो मेरा नाम फेर देना। खैर मरने के बाद क्या होगा सो आपको विश्वास नहीं, आप यदि यमलोक में जाकर नरक यातना भोगने से अभी नहीं डरते तो न सही परंतु अब वह जमाना नहीं रहा कि आप जैसे कुकर्मियों को अपना गुरू मान कर लोग आपके चरण पूजें। चारों ओर से नास्तिकता की आग जल रही है, आपके धन दौलत को आपके यार दोस्त लूटे लिए जा रहे हैं और आप अपने पूर्वजों की कीर्ति, अपनी इज्जत और यों ही अपना सर्वस्व धूल में मिला रहे हैं। महाराज, जरा सँभलिए।"

पंडित जी के लेक्चर का गुरू जी पर असर हुआ। वाचस्पति ने उनके नौकरों की, मित्रों की और रंडियों की पोल खोलकर दिखला दी और परिणाम यह हुआ कि गुरू जी ने बुरे आदमियों को, बुरी स्त्रियों को नौकरी से अलग कर सज्जन नौकर रक्खे, भागवत और पुराणादि की कथाएँ सुनना, नित्य विष्णुसहस्रनाम का पाठ करना और जो कुछ आवे उसे परोपकार में लगाना आरंभ किया। इसके आगे लिखने की आवश्यकता नहीं। यह काम एक दिन में नहीं हुआ किंतु पंडित जी का बोया हुआ बीज वाचस्पति के सींचने से थोड़े समय में वृक्ष बन गया।

अस्तु! यों अपने कार्य से निवृत्त होकर जब हमारी यात्रा-पार्टी स्टेशन की ओर जाने को तैयार हुई तब ही पंडित प्रिया-

नाथ की दृष्टि बाजार में किसी दीवार पर चिपके हुए किसी छपे कागज पर पड़ी। उसमें इन्होंने पढ़ा कि—

१०००) इनाम।

साकार वस्तु को निराकार के समीप पहुँचाना प्रमाणित कर देने पर, वेदों से और युक्ति प्रमाणों से श्राद्ध की सत्यता साबित कर देनेवाले को। अवधि एक सप्ताह।

प्रकरण—४४

श्राद्ध पर शास्त्रार्थ

गत प्रकरण में लिखा हुआ नोटिस पढ़ते ही पंडित प्रिया-नाथ ने अपने बँधे बँधाए विस्तर खोल दिए, इक्कों में रक्खा हुआ सामान उतार लिया और निश्चय कर लिया कि जब तक इस चिनौती का निराकरण न हो जाय यहाँ से चलना उचित नहीं। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उनको १०००) पाने का लोभ आ गया। नहीं! वह लोभी नहीं थे। उन्होंने उसी समय वाचस्पति से मिलकर प्रतिज्ञा कर ली, करा ली थी कि यह द्रव्य यदि मिल जाय और मिल ही जाना चाहिए, तो लोकोपकार में लगाना। वाचस्पति ने इस सिलसिले में और भी रुपया इकट्ठा हो जाने की आशा की क्योंकि यह सवाल केवल एक हजार रुपए का ही नहीं था। इसके फैसले पर समस्त गयावालों की जीविका का दारमदार था। यदि हार हो जाय तो उनके चूल्हों में पानी पड़ जाने का भय था। इस कारण लोगों में बड़ा जोश फैल गया था। सबसे पहले मदद देने को पंडित जी के गयागुरू जी ही तैयार हुए। उनका अनुकरण औरों ने किया और इस तरह एक अच्छी रकम इकट्ठी हो गई। किंतु क्या केवल रुपया ही इकट्ठा होने से बाजी जीत सकते हैं? शास्त्रार्थ करने के लिये विद्वान् चाहिए

और गयावालों में इने गिनों को छोड़कर पढ़ने लिखने की सौगंद थी। जो थोड़े बहुत पढ़े भी थे वे वैसे ही काम चलाऊ। बस इसलिये सारा भार प्रियानाथ और गौड़बोले पर आ पड़ा। इन दोनों में अग्रणी पंडित जी और सहायक गौड़बोले। परिणाम में प्रतिपक्षी दाँत न दिखला जाय इस-लिये रुपया एक जगह अमानत रखवा दिया गया। शास्त्रार्थ लेखबद्ध करना निश्चय हुआ, जबानी जमा खर्च से किसी न किसी के मुकर जाने का भय था। इतना होने पर मध्यस्थ नियत करने की पंचायत पड़ी। बहुत वाद विवाद के बाद बुध गया के बौद्ध पुरोहित मिस्टर अनुशीलन एम्. ए. मध्यस्थ बनाए गए। यह विलायत की आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के एम्. ए. थे। वहाँ इन्होंने संस्कृत में ही एम्. ए. पास किया था। इसके अतिरिक्त यह स्वर्गीय अध्यापक मैक्समूलर के शिष्य थे और आठ वर्ष तक काशीवास करके इन्होंने अध्य-यन अध्यापन से अच्छी योग्यता संपादन कर ली थी।

शास्त्रार्थ आरंभ हुआ। कार्यारंभ में परमेश्वर की स्तुति करके वादी ने कहा—"हमारा प्रश्न नोटिस में स्पष्ट रूप से व्यक्त हो चुका है। अब उत्तर देने का आपको अधिकार है।"

"बेशक! परंतु उत्तर देने के पूर्व कुछ बातों का स्पष्टी-करण हो जाना चाहिए। आपके प्रश्न से यह तो साफ हो गया कि आप ईश्वर को निराकार मानते हैं किंतु यह भी बतला

दीजिए कि आप पुनर्जन्म मानते हैं अथवा नहीं ? स्वर्ग और नरक मानते हैं अथवा नहीं ?"

"वास्तव में हम पुनर्जन्म को मानते हैं और बहस न बढ़ाकर अपने असली प्रश्न का उत्तर पाने के लिये स्वर्ग और नरक को भी मान लेंगे ताकि विषयांतर न हो जाय।"

"आप शायद चारों वेदों को, मनुस्मृति और गीता को और इतिहास दृष्टि से महाभारत तथा वाल्मीकीय रामायण को प्रामाणिक माननेवाले हैं ? परंतु वेद शब्द से मंत्र और ब्राह्मण दोनों को मानते हैं अथवा केवल मंत्रभाग को ?"

"अवश्य हम इन्हीं ग्रंथों को प्रमाणभूत मानते हैं परंतु ब्राह्मण भाग को ईश्वर कृत नहीं, मनुष्य कृत मानते हैं। आपको मंत्र भाग के ही प्रमाण देने चाहिएँ।"

"यदि आप ब्राह्मण भाग को वेद न मानें तो हमारा नहीं, आपका भी समस्त कर्मकांड लोप हो जाय। इसका पहले एक बार बूँदी में और एक बार काशी में निर्णय हो चुका है। काशी में राजा शिवप्रसाद सी. एस. आई. की स्वामी दयानंद जी सरस्वती से लिखा पढ़ी थी और उसमें मध्यस्थ डाक्टर थीबो थे और बूँदी में आपके दो विद्वानों से बूँदी के पंडितों का शास्त्रार्थ था और संस्कृत के धुरंधर विद्वान्, धाराप्रवाह संस्कृत संभाषण करनेवाले स्वर्गवासी महाराजाधिराज महाराज राजा श्रीरामसिंह जी बहादुर जी. सी. एस. आई., सी. आई. ई.

मध्यस्थ थे। दोनों शास्त्रार्थों को पढ़ लीजिए। पिष्टपेषण करने से कुछ लाभ नहीं।"

इस पर मिस्टर अनुशीलन ने दोनों शास्त्रार्थ पढ़कर सुनाए और जब व्यवस्था दी कि "मंत्र और ब्राह्मण, दोनों भाग अपौरुषेय हैं, ईश्वर निर्मित हैं।" तब फिर शास्त्रार्थ आरंभ हुआ। पंडित प्रियानाथ जी बोले—

"अच्छा हुआ। एक बहुत बड़ा झगड़ा सहज में निपट गया। हाँ! तो आपके विचार से तर्पणादि में दिया हुआ जल और श्राद्धादि में दिए हुए पिंडादि पितरों के पास नहीं पहुँच सकते। क्योंकि जब ईश्वर निराकार है तब पितर भी निराकार होने चाहिएँ और फिर पितरों के पास जल और पिंड पहुँचा देने के लिये कोई डाक का महकमा भी तो नहीं जो पारसल बनाकर पहुँचा दे। अच्छा ठीक है। आप यों ही मानते रहिए। हमारे विचार से ईश्वर साकार भी है और निराकार भी है। समय पर निराकार का साकार हो जाता है और साकार से निराकार। परंतु यदि थोड़ी देर के लिये ईश्वर को और उसके साथ हमारे पितरों को भी निराकार ही मान लें तो प्रथम तो हम जो कुछ कराते हैं उसे "पितरस्वरूपी जनार्दन प्रीयताम्" इस सिद्धांत से परमेश्वर के अर्पण करते हैं। इस सिद्धांत में पितर निमित्त हैं और ईश्वर परिणाम। दूसरे आप देखते हैं कि तर्पण का जल और श्राद्ध के पिंड प्रत्यक्ष नहीं पहुँचते उनका फल, उनका सार पहुँचता है और वह निरा-

कार है, फिर निराकार के निराकार में लय हो जाने में क्या आपत्ति हुई ? यदि उनका फल भी पहुँचना न माना जाय तो आपके पूर्व पुरुषों को दस बीस गालियाँ दे देने दीजिए। आप स्वयं उछल पड़ेंगे। फिर जब गालियाँ पहुँचती हैं तब वेद मंत्रों से पवित्र किए हुए पदार्थों का फल क्यों नहीं पहुँचेगा ? तीसरे जब साकार सूर्य भगवान् संसार को तपाकर जलीय पदार्थ को शोषण करते हैं, उस समय वह जल परमाणु रूप में निराकार ही बोध होता है किंतु फिर बादल बनकर वर्षा में जैसे साकार बन जाता है वैसे ही जल और पिंडों का निराकार सार यदि पितरों के पास पहुँचकर साकार बन जावे तो इसमें आपत्ति क्या है ? चौथे हवन को तो आप भी मानते और हम भी मानते हैं। आपके और हमारे मानने में भेद अवश्य है। आप उसे वायु शुद्ध करने के लिये करते हैं और हमारे हव्य का वही निराकार सार पवन को शुद्ध करता हुआ देवताओं को मिलता है। परंतु जब आपका होम केवल वायु को शुद्ध करनेवाला है तब आहुति आहुति पर वेद के मंत्रों का उच्चारण करने की क्या आवश्यकता है ? वेदी बनाकर ढकोसला करने से क्या लाभ है ? जब वायु का शुद्ध होना ही इसका फल है तब एक जगह आग जलाकर उसमें मन दो मन घृत, दो चार मन चंदन जला दीजिए और वेद मंत्रों के बदले यदि कबीर ही गाया जाय तो क्या हानि है ? इसमें न तो उन मंत्रों के देवताओं को अपना अपना

भाग लेने का श्रम उठाना पड़ेगा और न अध्वर्यु होता ब्रह्मा बननेवाले नई टकसाल के ब्राह्मणों को दक्षिणा! हमारे देवताओं के पास यज्ञ की अग्नि डाक बनकर जैसे हवि पहुँचाती है वैसे ही सूर्यनारायण श्राद्ध का पिंडादि पहुँचाने में पोस्ट बन जाते हैं।"

"परंतु आपके पितर जब अपने अपने कर्मों के फल स्वयं भोग रहे हैं फिर श्राद्ध करने से लाभ ही क्या?"

"बड़ा भारी लाभ है। यदि लाभ न हो तो मुसलमान और ईसाई अपने पूर्वजों की कबरों पर पुष्प क्यों चढ़ावें? कबरों के निकट बैठकर घंटों तक रोवें नहीं। इसलिये केवल श्राद्ध करनेवाले हम ही नहीं हैं, संसार की समस्त जातियाँ किसी न किसी रूप में श्राद्ध अवश्य करती हैं। श्राद्ध श्रद्धा से बना है। करनेवाले के अंतःकरण में यदि श्रद्धा हो, अपने पितरों पर वास्तविक भक्ति हो तो जिसके लिये किया जाय उसको और करनेवाले को, दोनों को फल मिलता है, उसकी मानसिक शक्ति बढ़ती है और उसका प्रभु-चरणों में प्रेम बढ़ता है। यह बात अनुभवगम्य है। करके देख लीजिए।"

"व्यर्थ ढकोसला है। जैसे मूर्तिपूजा ने देश को चौपट कर दिया वैसे ही श्राद्ध भी कर रहा है। दरिद्री देश है। फिजूल ठगा जाता है! यदि श्राद्ध का फल अवश्य ही मिलता हो तो कभी हमारे पूर्व जन्म के पुत्र द्वारा श्राद्ध किए जाने पर हमारा पेट बिना खाए इस जन्म में भर जाना चाहिए। डकारें आनी चाहिएँ।"

"बेशक बिना खाए पेट भर जाता है, डकारें आने लगती हैं।" इतने ही में दर्शकों ने एक स्वर से, उच्चस्वर से कहा— "हाँ आती हैं। कभी कभी आती हैं।" और इसका मध्यस्थ महाशय ने भी अपने अनुभव से अनुमोदन किया। तब पंडित जी फिर कहने लगे—

"बस मूर्तिपूजा ढकोसला नहीं है। उसने देश का अपकार नहीं, उपकार किया है। इसके लिये बहस करने से विषयांतर हो जायगा और तुरंत ही मध्यस्थ महाशय मुझे रोक देंगे किंतु इतना कहे बिना मैं आगे नहीं बढ़ सकता कि बिना मूर्ति के ध्यान नहीं हो सकता। इष्ट का आराधन करने के लिये लक्ष्य की आवश्यकता है। निराकार का लक्ष्य नहीं। और यदि निराकार भी माना जाय तो रेखागणितवाले निराकार बिंदु को बोर्ड पर साकार लिखे बिना कदापि आगे नहीं बढ़ सकते। जिसकी लंबाई चौड़ाई नहीं वह बिंदु, बिंदु की यही परिभाषा है किंतु खड़िया से बोर्ड पर जो बिंदु लिखा जाय उसका कम से कम आकार अवश्य होता है और अक्षर जो लिखे जाते हैं वे भी निराकार के आकार हैं।"

पंडित जी के मुख से इस विषय में और भी कुछ निकलनेवाला था किंतु मध्यस्थ महाशय ने—"हाँ सत्य है। परंतु विषयांतर में न चले जाइए।" कहकर उनको रोका तब वह फिर बोले—

"अच्छा मूर्तिपूजा के विषय में यदि आपको संदेह हो तो

स्वर्गीय पंडित अंबिकादत्त व्यास कृत "मूर्ति-पूजा" पुस्तक देख लीजिए।"

"आपने युक्तियों ही युक्तियों से हमारा समय नष्ट कर डाला किंतु वेदादि शास्त्रों का प्रमाण अब तक एक भी देते न बना।"

"नहीं साहब, एक नहीं। दस बीस! अनेक! आप रामायण को मानते हैं। उसमें भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र ने अपने पिता का श्राद्ध किया है। महाभारत में एक जगह नहीं, अनेक स्थलों पर ऐसा उल्लेख है। अच्छा भगवद्गीता को तो आप मानते हैं ना? उसमें भगवान् श्रीकृष्ण-चंद्र से स्वयं अर्जुन ने कहा है। अच्छा—"लुप्तपिंडोदक-क्रिया:" का क्या मतलब है? खैर मनुस्मृति तो आपका प्रमाण ग्रंथ है। उसमें लिखा है कि—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञ. पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄञ्छ्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥
कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्॥"

मर्मानुवाद

"ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नरयज्ञ, पितृयज्ञ—इन्हें सर्वदा यथाशक्ति करते रहना चाहिए। विद्या पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ, तर्पण पितृयज्ञ देवयज्ञ, होम, भूतयज्ञ बलि और नरयज्ञ अतिथि-पूजन हैं। ऋषियों का अर्चन स्वाध्याय से, देवताओं का यथाविधि होम करके, पितरों का श्राद्ध द्वारा, मनुष्यों का अन्नदान से और भूतों का बलिप्रदान से पूजन करना चाहिए। अन्न से, जल से, दूध से, मूल से और फल से पितरों की प्रीति सम्पादन करने के लिये श्राद्ध नित्य प्रति करना योग्य है।"

"नहीं! नहीं! असली ग्रंथों के ये वचन नहीं हैं। स्वार्थियों ने पीछे से बढ़ा दिए होंगे।"

"नहीं! जनाब नहीं! पीछे से नहीं बढ़ाए हैं! पीछे से बढ़ाने का प्रमाण क्या है? यों "मीठा मीठा गप गप और कड़ुवा कड़ुवा थू थू" करने से काम नहीं चलेगा। ग्रंथ में अपने मतलब के वचन प्रमाण मानना और जिनसे अपनी हार होती हो उन्हें क्षेपक बतला देना अन्याय है। कोई भी बुद्धिमान् इसे स्वीकार नहीं करेगा।"

इस पर फिर मध्यस्थ महाशय ने कहा—"वास्तव में यथार्थ है। यदि इन वचनों को नहीं मानना था तो मनु-स्मृति को ही क्यों माना?" तब फिर पंडित जी बोले—

"अजी साहब, केवल मनुस्मृति में क्यों ये लोग तो अपने बनाए ग्रंथों में भी क्षेपक बताने लगते हैं। सत्यार्थ-

प्रकाश के पहले संस्करण में श्राद्ध की विधि थी किंतु अपनी बात गिरती देखकर दूसरे संस्करण में उसे निकाल दिया, खारिज कर दिया गया।"

इस पर मध्यस्थ महाशय मुसकुराए और साथ ही प्रतिवादी महाशय झेंपे भी। फिर उन्होंने कुछ खिसिया-कर कहा—

"अच्छा! आप वेद के प्रमाण तो दीजिए। यों टाल-मटोल करने से काम नहीं चलेगा। वृथा बकवाद करने से कोई लाभ नहीं।"

"हाँ साहब, लीजिए। लिखते जाइए। समझते जाइए घबड़ाइए नहीं। वेद मंत्र लीजिए—

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च याज्ञियाः,

तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युदंती। अथर्व १८।४।५७

ये निखाता, ये परोप्ता, ये दग्धा, ये चोद्धिताः,

सर्वांस्तनग्न आहव पितृन् हविषे अत्तवे। अथर्व १८।२।३४

ये अग्निदग्धा, ये अनग्निदग्धा, मध्ये दिवः स्वधया मादयंते, त्वं ता निवेत्थयति ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषंताम्। ३५

त्वमग्न ईळितः कव्यवाहना वाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी प्रादाः पितृभ्यः स्वधयाते अक्षन्नद्धित्वंदेव प्रयताहवींऽषि।

ऋग्वेद ६६

ये चेह पितरो ये च नेहयांश्च विद्मया याँउच नप्रविद्म
त्वं वेत्थयति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञ१७ सुकृतंजुषस्व ।
ऋग्वेद ६७"

मर्मानुवाद

"जो जीवित हैं, जो मृतक हो गए, जो उत्पन्न हुए हैं और जो यज्ञ करनेवाले हैं उनके लिये घृत की कुल्या मधु-धारा प्राप्त हो। हे अग्नि, जो पितर गाड़े गए हैं, जो पड़े रहे हैं, जो अग्नि से जलाए गए अथवा जो फेंके गए हैं उन सबके लिये हवि भक्षण करने को सम्यक् प्रकार से ले जाओ। जो अग्नि में जलाए गए हैं और जो नहीं जलाए गए हैं अथवा जो हवि भक्षण करके स्वर्ग में आनंदित हैं, हे अग्नि, उनके अर्थ सेवन करने को ले जाओ क्योंकि तुम उन्हें जानते हो। हे कव्यवाहन अग्नि, तुम देवताओं और ऋत्विजों से स्तुत किए गए हो। तुमने हवियों को सुगंधित करके धारण किया है। पितृमंत्रों से पितरों के लिये दिया गया है और उन पितरों ने भी भक्षण किया है। अब तुम भी शुद्ध हवि को भक्षण करो। ये जो पितर इस लोक में (अन्य) देह धारण करके वर्त्तमान हैं, जो इस लोक में नहीं अर्थात् स्वर्ग में हैं, जिन पितरों को हम जानते अथवा स्मरण न होने से नहीं जानते, हे अग्नि, ये जितने पितर हैं उन सबको तुम सर्वज्ञ होकर जानते हो। उन पितरों को अन्नों से शुभ यज्ञ में सेवन करो।" अब इससे अधिक चाहिए तो पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र का "दयानंद

तिमिर भास्कर" देख लीजिए, "महताब दिवाकर" देख लीजिए और छोटे मोटे अनेक ग्रंथों का अनुशीलन कर लीजिए ताकि आपको वेदों में प्रमाण ढूँढ़ने में सुगमता पड़े ।

"अजी हजरत, आपके पुरखा तो फल्गू में से हाथ निकालकर स्वयं पिंड ग्रहण किया करते थे ना ? अब कहाँ गए ? अब भी तो कहीं दिखलाई देते होंगे ।"

"हाँ हाँ ! केवल हाथ निकालकर ही क्यों ? स्वयं समक्ष खड़े होकर ले सकते हैं । पितर तो पितर, ब्रह्मादिक देवता ले सकते हैं । स्वयं आपके निराकार परमात्मा साकार बनकर ले सकते हैं । उन्होंने एक बार नहीं हजारों बार अवतार लेकर भक्तों का उपकार किया है । श्रद्धा मात्र चाहिए, सदाचार चाहिए, अनन्य भक्ति चाहिए और परमेश्वर के चरणारविंदों में लौ लगाने के लिये मानसिक शक्ति चाहिए । जनाब, हाथी के दाँत दिखाने के और और खाने के और हैं । आपमें से यह (एक की ओर इंगित करके) स्वयं श्राद्ध कराकर दक्षिणा ले रहे थे और यह (दूसरे को दिखाकर) श्राद्ध कर रहे थे । किंतु सच मानिए आप जैसे अश्रद्ध आस्तिकों से नास्तिक और डावाँडोल नास्तिक से आस्तिक अच्छा है । आप न इधर में न उधर में । जो आज डंका पीटने आए हो तो कल श्राद्ध करने कराने क्यों गए थे ?"

"केवल आप जैसे हठधर्मियों के दबाव से, घरवालों के संकोच से अथवा निंदा के भय से । नहीं तो श्राद्ध में कुछ लाभ नहीं।"

"तब आप लोगों में मानसिक शक्ति बिलकुल नहीं ! शायद माता पिता जब अति वृद्ध हो जायँ तब उन्हें आप खाने को भी न दें। क्योंकि उन्हें देने से कुछ लाभ नहीं। बेशक आप लाभ के बिना बात भी नहीं करते। मुशकिल तो यह है कि उन लाभों को सुझाने के लिये कोई शिक्षक भी परदेशी होना चाहिए जो आपको बतलावे कि गले का कफ हटाने को आचमन और सुस्ती छुड़ाने को मार्जन किया जाता है। और जब आपसे पूछा जाय कि गले का कफ हटाने के लिये आचमन की जगह लोटा भर पानी पी लो और यदि स्नान से सुस्ती न छूटी तो मार्जन से क्या छूटेगी तो आप बगलें झाँकने लगें। खैर इसी तरह कोई दिन कोई न कोई श्राद्ध का भी ऐसा ही मतलब समझानेवाला मिल जायगा, तब तक किए जाइए। छोड़िए मत। "अकरणान्मंदकरणं श्रेयः।"

"अच्छा आप ही बतलाइए।"

"हमें तो जो कुछ बतलाना था बतला दिया। वेद मत से, जिस सिद्धांत के अनुकूल धर्म समझकर हम लोग करते हैं सो सब कह दिया। हमारी पूर्व पुरुषों पर भक्ति है इसलिये करते हैं, इस सिलसिले में उनके गुणों का स्मरण करके अपना मन पवित्र करते हैं, उनके गुणों का अनुकरण करने का प्रयत्न करते हैं और अपनी श्रद्धा के अनुसार शास्त्र के प्रमाणों से उनका उद्धार करने के लिये करते हैं। जैसी श्रद्धा वैसा फल। फल जो मिल रहा है प्रत्यक्ष है, अनु-

भवगम्य है। अभ्यास करके देखिए। चित्त की एकाग्रता चाहिए।"

इस तरह के वाद विवाद के बाद मध्यस्थ महाशय ने जो फैसला सुनाया उसका सार यही है—

"श्राद्ध युक्ति प्रमाणों से, वेदादि ग्रंथों के मत से सिद्ध हो गया। नोटिस के अनुसार एक हजार रुपया पंडित प्रियानाथ को दिला दिया जावे।"

इस पर पंडितजी ने मध्यस्थ को, प्रतिपक्षियों को और श्रोताओं को धन्यवाद देते हुए कह दिया कि "यह एक हजार और एक हजार रुपया मेरी ओर से, यों दो हजार रुपया यहाँ ही गयाजी में किसी लोकोपकार के लिये है।" ऐसा कहते ही "वाह वाह! धन्य! शाबाश!" के गगनभेदी उच्चारण के साथ सभा विसर्जित हुई।

प्रकरण—४५

मातृस्नेह की महिमा

गत प्रकरण के अंत में शास्त्रार्थ में सनातन धर्म के विजय होने से जन साधारण ने जयध्वनि के साथ जिस तरह आनंद प्रदर्शित किया सो लिखने की आवश्यकता नहीं और न यहाँ पर यह दिखलाने की आवश्यकता है कि वहां के गयावालों की घबड़ाहट मिट गई क्योंकि जब "यतो धर्म्मस्ततो जयः" का सिद्धांत अटल है तब इसमें आश्चर्य ही क्या ? किंतु इस जगह एक बात के लिये विपक्षी भाइयों का अवश्य कृतज्ञ होना चाहिए। जो अश्रद्धा की, अधर्म की आग भीतर ही भीतर सुलगकर लोगों की पितृभक्ति को नष्ट कर रही थी, जिससे हजारों लाखों आस्तिकों में आस्तिक नाम धारण करनेवाले नास्तिकों का दल अपने धर्म के सिद्धांत न जानने से बढ़ रहा था वह एकदम बंद हो गया। शरीर में थोड़ा बहुत विकार जब तक विद्यमान रहे तब तक आदमी उसकी ओर से बेखबर रहता है किंतु जब वह इस तरह जोर पकड़ बैठता है तब उसे झख मारकर इलाज की सूझती है। इसलिये मानना चाहिए कि बीमारी भी ईश्वर की कृपा का फल है। दुःख अंतःकरण का रेचन है।

अस्तु ! फल यह हुआ कि गयावालों की आँखें खुल गईं। अब उन्होंने समझ लिया कि हमारी काठ की हँडिया बार बार

न चढ़ेगी। अब वे लोग कमर बाँधकर अपनी संतानों को विद्या पढ़ाने पर, धर्मशिक्षा देने को और संस्कृत की उन्नति करने के लिये तैयार हुए। इसका यश वाचस्पति को मिला। ईश्वर करे यह लेखक की कल्पना ही न निकले। यदि सच-मुच इस तरह सुमार्ग में प्रवृत्ति हो जाय तो सौभाग्य !

अब इस पंडित पार्टी को गया से विदा होने के सिवाय वहाँ कुछ काम न रहा। बस वे लोग गया गदाधर के दर्शन करके कृत्यकृत्य होते हुए विष्णुपद को साष्टांग प्रणाम करके अपने अपने पिता माता का स्मरण करते हुए वहाँ से रवाना हुए। पंडितजी के साथवालों में से किसी के मुख से यह निकल गया कि "अब पितृऋण से मुक्त हुए।" पंडितजी उस समय ध्यान में मग्न होकर अंतःकरण के शुद्ध, स्वस्थ और स्वच्छ पट पर याद की लेखनी से और विचार की स्याही से अपने माता पिता का भावपूर्ण चित्र लिख रहे थे। वह लिखते जाते थे, बीच बीच में मुसकुराते जाते थे और साथ ही प्रेमाश्रु बहाते तथा गद्गद होते जाते थे। अचानक उनके कानों पर यह भनक पड़ी। वह एकाएक चौंक पड़े। उन्होंने कहा—

"हैं किसने कहा कि पितृऋण से मुक्त हो गए। हाँ! शास्त्र की मर्यादा से अवश्य मुक्त हो गए। शास्त्रकार यदि ऐसी मर्यादा न बाँधते तो कोई श्राद्ध ही न करता। क्योंकि बोहरे का रुपया चुकाने की ओर ऋणी की जब ही प्रवृत्ति होती है जब उसे आशा हो कि किसी न किसी दिन पाई पाई

चुककर मैं उऋण हो जाऊँगा। किंतु उनके निष्कपट, निश्चल और निःस्वार्थ उपकारों को देखते हुए कहना पड़ता है कि मुक्त नहीं हुए। शास्त्रों में यह भी तो लिखा है कि एक बार के गया श्राद्ध से माता से तीन दिन तक उऋण होते हैं।"

"क्यों जी माँ बाप में इतना अंतर क्यों?"

"निःसंदेह दोनों के उपकार निःस्वार्थ ही होते हैं किंतु पिता से माता में निःस्वार्थता की मात्रा अधिक होती है। पिता पुत्र को पढ़ा लिखाकर कुछ बदला भी चाहता है। वह चाहता है कि लड़का विद्वान्, बुद्धिमान् होकर धन कमावे, यश कमावे और नाम कमावे किंतु मातृस्नेह अलौकिक है। उसमें स्वार्थ का लेश नहीं। वह बदला बिलकुल नहीं चाहती। यदि उसके प्रेम में किंचित भी बदले का अंश होता तो पशु पक्षी अपनी संतान का लालन पालन क्यों करते? बेटा कपूत होने पर बाप उसे फटकारता है, मारता पीटता है किंतु माता! अहा! माता का स्नेह! वह अलौकिक स्नेह है! बेटा चाहे जैसा कपूत हो, माता को कैसा भी क्यों न सतावे किंतु माता कभी उससे क्रुद्ध नहीं होती, कभी उसका जी नहीं दुखने देती, कभी उसे मारना पीटना सहन नहीं कर सकती और यहाँ तक कि पिता यदि अपराध करने पर उसे मारे तो उसके बदले स्वयं पिटने को तैयार होती है।"

सबने कहा—"अवश्य ठीक है। बेशक सत्य है।" किन्तु प्रियंवदा कुछ न बोली। चुपचाप सुनती रही। शायद इस-

लिये कि सबके सामने पति से बातें करने में उसे लज्जा आती थी। परंतु हाँ! मन ही मन मुसकुराती रही। मन ही मन कहती रही कि "तब तो इस अंश में प्राणनाथ से भी मेरा दर्जा बढ़कर है।" उसके हृदय ने पति परमेश्वर को यह बात जतला भी देनी चाही किंतु आँखों की झेंप के सिवाय ओठों के कपाट वाक्य निकाल देने के लिये खुले नहीं। उनमें लाज का ताला पड़ गया और उसने फिर समय पाने पर विनोद के लिये पति को एक हलका सा ताना देने का ठहराव कर लिया।

ये उस समय की बातें हैं जब ये लोग जगदीशपुरी जाने के लिये गया स्टेशन पर बैठे हुए ट्रेन की राह देख रहे थे। वहाँ से पुरी जाने के दो मार्ग हैं। एक कलकत्ता होकर और दूसरा बाला बाला। इनके साथियों में से कितनों ही की राय कलकत्ते होकर जाने की थी। उन्होंने कलकत्ते जैसे एक विशाल नगर की सैर और काली माई के दर्शन, बस ये दो लाभ बतलाए। एक गौड़बोले को छोड़कर सबकी राय इस ओर झुक गई। थोड़े से खर्च के लिये पंडितजी किसी का मन मारनेवाले नहीं थे। वह यह भी अच्छी तरह जानते थे कि कलकत्ते जाने से जो अनुभव हो सकता है वह असाधारण है किंतु दो बातें उनके अंतःकरण में खटकीं। काली माई के दर्शन करते समय वहीं बलिदान का वीभत्स दृश्य आँखों के सामने आ जायगा। याद आते ही उनका हृदय दया से भर गया। उन्होंने कह दिया—"तंत्र शास्त्रों के मत

से चाहे पशु-बलि विहित भी हो तो हो किंतु मैं ऐसा दृश्य देखने में असमर्थ हूँ। एक बार की घटना याद करके मेरा हृदय टुकड़े टुकड़े हो रहा है। इसी लिये मैं भगवती विंध्य-वासिनी के दर्शनों का आनंद लेने से वंचित रहा, इसी कारण कलकत्ते जाने को भी जी नहीं चाहता है। हे माता, क्षमा करो। हे जगज्जननी रक्षा करो। मैं आपका अयोग्य भक्त हूँ। मैं मूढ़ हूँ। आपकी महिमा को, आपकी लीला को नहीं जानता। आप सचमुच ही गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में—'भव भव विभव पराभव कारिणि। विश्वविमोहनि स्ववश विहारिणि हो'। हे माया! वास्तव में आपकी माया अपरंपार है। माया और ब्रह्म का जोड़ा है। जैसे ब्रह्म से माया की रचना है वैसे ही माया बिना ब्रह्म नहीं। माता! मुझे क्षमा करो। मुझ पर दया करो।" कहते हुए पंडितजी चुप होकर थोड़ी देर तक विचार में पड़ गए। तब उनमें से एक ने फिर पूछा—

"परंतु अनुभव?"

"हाँ! वास्तव में वहाँ जाने से अनुभव का लाभ विशेष है। कलकत्ता व्यापार का, विद्या का, सभ्यता का और कमाई का केंद्र है किंतु इस लाभ के अमृत में हलाहल विष मिला हुआ है। बलिदान के अधर्म में तो धर्म की आड़ भी है किंतु उसमें घोर अधर्म है। याद करते ही रोमांच होते हैं, कहते हुए जिह्वा टूटी पड़ती है और हृदय विदीर्ण हुआ जाता है।

धर्म की बात जाने दीजिए। जो लोग देशरक्षा के लिये, खेती का सर्वनाश होता देखकर, घी और दूध के आग के मोल बिकने पर भी, शुद्ध न मिलने से भी यदि नहीं चेतते तो उनकी बात जाने दीजिए किंतु वहाँ फूँका का अनर्थ बड़ा भारी है।"

"हैं फूँका क्या?"

"फूँका की नली लगाकर गौओं से बलपूर्वक दूध दुह लिया जाता है। बात इस तरह है कि हरियाणे और कोशी जिले में जो अच्छी अच्छी गौएँ गर्भवती होती हैं उन्हें कलकत्ते के हिंदू ग्वाले खूब दाम देकर खरीद ले जाते हैं। ऐसे समय में खरीदते हैं जब उनके बच्चा पैदा होने में अधिक दिन बाकी न रहें। कलकत्ते पहुँचने पर जब वे ब्याती हैं तब बच्चे तुरंत ही कसाई के हाथ बेंच दिए जाते हैं। यदि भैंसों की तरह गायें भी बच्चे बिना दूध दे दिया करती हों तो उन्हें फूँके का कष्ट न उठाना पड़े परंतु उनमें संतान-प्रेम का जो महद् गुण है उसी से कलकत्ते जाकर उन पर कष्ट के पहाड़ टूट पड़ते हैं। कलकत्ते में जमीन महँगी, दुर्मिल और किराया अनाप सनाप। फिर उन बिचारियों को ग्वालों के यहाँ सुख से बैठने के लिये जगह कहाँ? जब चरने के लिये बाहर जाने को वहाँ कोई गोचारण की भूमि नहीं तब यदि दिन रात वे थान में बँधी रहें तो इसमें कुछ अचरज नहीं, परंतु उन्हें बैठने के लिये भी पूरी जगह नहीं मिलती। थोड़ी थोड़ी नपी हुई जगह में वे बाँधी जाती हैं और सो इस तरह

से कि पारी पारी से एक एक को बैठकर विश्राम लेने का अव-सर मिल जाय। प्रयोजन यह कि एक थोड़ी देर बैठकर जब सुस्ता चुकती है तब खड़ी होकर दूसरी को बैठने के लिये जगह दे दिया करती है। दिन रात उनका यही हाल रहता है।"

"वास्तव में बड़ा अनर्थ है परंतु फूँका क्या? शायद फूँका इससे भी भयानक होगा। तब ही आपने अब तक नहीं बतलाया।"

"हाँ बेशक! खैर कहना ही पड़ेगा। कहने को जी तो नहीं चाहता परंतु खैर! सुनो। यह निश्चय है कि गाएँ बच्चा मर जाने पर दूध नहीं देतीं, यहाँ तक कि यदि अधिक दूधवाली गाय का बच्चा मर जाय तो उसके स्तन दूध के मारे फटने लगते हैं। उनमें विकार हो जाता है। स्त्रियों को भी ऐसा होते हुए देखा गया है। बस इसी लिये वहाँ के ग्वाले किसी बाँस की अथवा नरसल की पतली पोली नलियाँ उनके पीछेवाले स्थान में डालकर फूँक देते हैं। परिणाम इसका यह होता है कि उनके स्तनों में जितना दूध होता है वह अपने आप जगह छोड़ देता है। एक बात इससे और भी भयानक है कि जब उनका दूध बंद हो जाता है तब वे कसाइयों को बेंच दी जाती हैं क्योंकि दूसरी बार उन्हें गर्भ नहीं रह सकता।"

"निःसंदेह बड़ा हृदय-द्रावक व्यापार है। अवश्य ही देखने योग्य नहीं। बेशक वहाँ जाना ही न चाहिए परंतु इसका उपाय?"

"हाँ उपाय हो रहा है। गवर्मेंट के कानून से फूँका लगानेवाले को दंड मिलता है। जो पकड़े जाते हैं उन पर जुर्माना अथवा सजा होती है। वहाँ के सज्जन भी इस प्रयत्न में हैं कि ये दोष दूर होकर शुद्ध घी और दूध मिलने लगे। कुछ कुछ काम हुआ भी है। घी में चर्बी मिलाना तो पहले था ही किंतु अब नारियल का तेल देश भर में कसरत से मिलाया जाने लगा है।"

"खैर! घी की बात तो घी से रही किंतु महाराज, गोरक्षा का तो कुछ उपाय होना चाहिए। वास्तव में इसके बिना हमारी धर्म-हानि, स्वास्थ्य-हानि और धन-हानि है।"

"जो उपाय देश भर के हिंदू अपनी शक्ति भर कर रहे हैं वे अच्छे ही हैं। गोरक्षा के लिये धर्माग्रह होना ही चाहिए क्योंकि वह हमारी पूजनीया माता है। उसके उपकार रक्षक और भक्षक पर समान हैं। इससे बढ़कर उपकार क्या होगा कि वह घास खाती है और बदले में दूध देती है किंतु मेरी समझ में उसके लिये जो उपाय किए जा रहे हैं उनमें बड़ी भारी त्रुटि है। प्रायः ऐसे काम किए जा रहे हैं जिनसे एक जाति का दूसरी जाति से द्वेष बढ़े, हाकिमों को चिढ़ हो और काम का काम न हो। इनमें कभी कभी को छोड़कर विशेष दोष हिंदुओं का चाहे न हो परंतु मेरी समझ में इस प्रश्न को आग्रह के ढाँचे पर ढालने के बदले व्यापार के तलों पर लेना अधिक समयानुसार है, अधिक लाभदायक है। समय को

देखते हुए कर्त्तव्य यही मालूम होता है कि जो काम किया जाता है उसमें तीन चार बातों की वृद्धि की जाय। एक जहाँ तक बन सके प्रत्येक गृहस्थ अपना धर्म समझ कर शक्ति के अनुसार एक दो गाएँ अवश्य अपने घर में रक्खे। दूसरे देशी रजवाड़ों में जैसे गाँव पीछे थोड़ी बहुत भूमि गोचारण के लिये अवश्य छोड़ी जाती है उसी तरह सरकारी राज्य की प्रजा खरीद कर इस काम के लिए जमीन छोड़ दे और उसका जो सरकारी कर हो वह संयुक्त पूँजी के व्याज में से हर साल अदा कर दिया जाय। ऐसा करने से गवर्मेंट भी कुछ रिआयत कर सकती है। तीसरे जो हिंदू कसाई को गाय बेच उसकी जातिवाले उसका हुक्का पानी बंद कर दें। और चौथी और सबसे बढ़ कर यह कि अच्छा दूध तथा घी मिलने के लिये, गोवंश की वृद्धि के लिये, गायों की नसल सुधार कर खेती को लाभ पहुँचाने के लिये और ऐसे ऐसे अनेक लाभों के लिये कंपनियां खड़ी की जाँय। इस उद्योग से गवर्मेंट भी प्रसन्न होगी और धर्म-वृद्धि के साथ देश का उपकार भी होगा। कांता भैया का इरादा इस उद्योग का नमूना दिखला देने का है। उसने आरंभ भी कर दिया है। सफलता परमेश्वर के हाथ है।"

इस तरह बातें समाप्त होते होते रेल की घंटी हुई और ये लोग टिकट लेकर कलकत्ते का मार्ग छोड़कर सीधे जगदीशपुरी जा पहुँचे।

प्रकरण—४६

कर्म-फल का खाता

गया के स्टेशन से ही पंडित, पंडितायिन और गौड़बोले ड्योढ़े दर्जे की गाड़ी में और और सब तीसरे दर्जे में सवार हुए। जब ये आस्तिक हिंदू थे तब ट्रेन में खाना पीना बंद और मार्ग में कुँओं का अभाव होने से नलों का पानी पीना भी बंद। अस्तु यह तो इस पार्टी की साधारण बात थी। मार्ग में केवल एक के सिवाय कोई विशेष घटना नहीं हुई किंतु वह एक भी ऐसी हुई जिसने समस्त मुसाफिरों के कान खड़े कर दिए। गया से चार पाँच स्टेशन आगे बढ़ने पर तीसरे दर्जे की गाड़ी में एक मेहतर आ बैठा। वह वास्तव में मेहतर था अथवा जगह करके आराम से पैर फैलाकर सोने के लिये बन गया था, सो नहीं कहा जा सकता क्योंकि आज-कल ऐसी नीचता बहुधा देखी जाती है। मैं इसे नीचता इसलिये कहता हूँ कि येही हिंदुओं के गिराव के लक्षण हैं। संसार का नियम है कि समस्त जातियाँ नीचे से ऊपर की ओर जा रही हैं। भारतवर्ष में ही जब शूद्र और अति शूद्र तक द्विज बनने का प्रयत्न करते हैं तब द्विज स्वार्थवश थोड़े से आराम के लिये यदि भंगी बन जाय तो उसे क्या कहें?

अस्तु जिस गाड़ी में वह चांडाल घुसा उसी में भगवान-दास, भोला आदि बैठे हुए थे। बूढ़े बुढ़िया और उनके डर से गोपीवल्लभ भले ही चुप रहा किंतु भोला से ऐसा अधर्म सहा न गया। उसने तुरंत ही उठकर मेहतर को लाल लाल आँखें दिखलाईं और धक्के देकर गाड़ी से निकाल दिया। इस पर बहुत शोर गुल मचा, आपस में गाली गलौज का अवसर आया और अंत में हाथा पाई भी हो पड़ी। स्टेशन के नौकर चाकर अपना काम काज छोड़कर वहाँ आ खड़े हुए, मुसाफिरों का झुंड का झुंड वहां इकट्ठा हो गया और बीच बचाव करने के लिये पुलिस भी आ डटी। पुलिस जिस समय दोनों को गिरफ्तार करके चालान करने की तैयारी करने लगी तब पंडित जी भी इस संदेह से उतरकर उनके पास पहुँचे कि "कहीं अपने साथियों में से कोई न हो।" उनको विशेष संदेह भोला पर ही था क्योंकि जैसा वह ग़रीब था वैसा ही उजड्ड भी था। उसकी सूरत देखते ही उनका संदेह सचाई में बदल गया। उन्होंने क्रोध में आकर भोला को बहुत ही डाँट-डपट बतलाई। जिस समय वह भोला को फटकारते और बीच बीच में मामला न बढ़ाने के लिये पुलिस से चिरौरी कर रहे थे उनकी एकाएक नजर उस मेहतर पर पड़ी। देखते ही एकदम वह आग बबूला हो गए। क्रोध के मारे इनके होंठ थरथराने लगे, शरीर काँपने लगा और रोंगटे खड़े हो आए। उन्होंने अपने आपे को तुरंत ही सँभाला।

वह क्रोध का भूत सवार होने पर पछताए भी किंतु उनसे कहे बिना न रहा गया। वह उस मेहतर की ओर मुँह करके कहने लगे—

"क्या तुम वास्तव में भंगी हो? मेहतर हो तब गले में जनेऊ क्यों डाल रखा है? राम राम! तुम्हें लाज नहीं आती! जब तुमने अपनी जबान से स्वयं भंगी होना स्वीकार कर लिया तब हो चुके। तुम्हारी जातिवालों को चाहिए कि तुम्हें जाति से बाहर कर दें। जैसी मनशा वैसी दशा। इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में अवश्य भंगी होगे। तुम्हारे कर्म तुमसे लातें मार मार कर पायखाना उठवावेंगे। खैर, दूसरे जन्म की बात जाने दो परंतु पुलिस के चालान करने पर जब अदालत में तुम्हें खड़ा किया जायगा तब?"

इस पर वह व्यक्ति घबड़ाया। वह रोने लगा और पुलिस की खुशामद करके उसने जैसे तैसे अपना पिंड छुड़ाया। इस समय भीड़ में से आवाज आई—"हम जानते हैं। यह न भंगी है और न ब्राह्मण। यह उन जातियों में से है जो समय के फेर से ब्राह्मण बनना चाहती हैं।" बस, इसी समय घंटी हुई और सब अपनी अपनी गाड़ियों में जब सवार हो गए तब रेल सीटी बजाकर धक धक करती हुई वहाँ से चल दी। ऐसे ट्रेन यद्यपि वहाँ से रवाना हो गई परंतु पंडितजी का क्षोभ न मिटा। हिंदुओं की अवनति पर दुःखित होते, ऐसे ही विचारों की तरंगों में मग्न होकर चिंता करते हुए जब वह

जा रहे थे तब उस दर्जे के एक मुसाफिर ने इनका मौन तोड़ा। वह बोला—

"देखिए! इस अधोगति का भी कुछ ठिकाना है? देश एक बार अवश्य डूबेगा! काटो तो हमारे शरीर से जैसे लहू निकलता है वैसे ही भंगी के शरीर में से। फिर इतनी घृणा क्यों? हमारा शरीर भी तो मल-मूत्र से भरा हुआ है। वे बिचारे हमारा इतना उपकार करते हैं और हम लातें मार मारकर उन्हें गिरा रहे हैं? इस छुआछूत ने हिंदुओं का सर्वनाश कर दिया।"

"वास्तव में अधोगति का ठिकाना नहीं और ऐसे लोगों की बदौलत जब तक भगवान् कल्कि अवतार धारण न करें, राजा कलि अवश्य इस देश को डुबो देगा किंतु आपके विचार में और मेरे विचार में धरती आकाश का सा अंतर है। छुआछूत देश को चौपट करनेवाली नहीं। 'आचारः प्रथमो धर्मः।' इस सिद्धांत से राजाधिराज मनु की आज्ञा के अनुसार यह भी हिंदुओं के दस धर्मों में से एक है और एक भी ऐसा जिस पर शेष नवों का दारमदार है। जब तक शरीर में पवित्रता नहीं होती, मन पवित्र नहीं हो सकता और मन पवित्र हुए बिना—'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम्।' का साधन नहीं हो सकता। अनेक जन्मों तक के घोर पापों का संचय होकर उसने भंगी का शरीर पाया है, अब भी वह वैसे

ही कुकर्मों में प्रवृत्त है। यदि वह वाल्मीकि, नारद, शबरी, रैदास आदि भगवदीय सज्जनों का सा सुकर्म करे तो उसे कौन गिरा सकता है? परमेश्वर के लिये सब समान हैं। उसके यहाँ जाति-पाँति का कुछ भेद नहीं। 'जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई'।"

"अच्छा, तब आप भी मेरी तरह कर्म से जाति मानते हैं? कर्म से वर्ण माननेवालों से कुछ बहस नहीं। वास्तव में कर्म से ही जाति है। अंत:करण भी इसी को स्वीकार करता है।"

"नहीं जनाब, केवल कर्म से ही जाति नहीं। अच्छी जाति में, कुल में जन्म लेकर मनुष्य को अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म करना चाहिए।"

"तब आपके बतलाए हुए भक्त जन केवल कर्म करने ही से क्योंकर परम पद को प्राप्त हुए? यहाँ तो आपकी गोटी गिर गई?"

"गिरी नहीं! जरा समझकर सुनिए। कभी गिर नहीं सकती। भगवान् के यहाँ साहूकारों की तरह हमारा खाता खुला है। जो हम शुभ कर्म करते हैं वे उसमें जमा होते हैं और अशुभ कर्म हमारे नाम लिखे जाते हैं। यह हिसाब एक जन्म का नहीं, अनेक जन्मों का इकट्ठा है। केवल एक ही, वर्त्तमान जन्म के कर्मों से हिसाब न लगाइए। यदि एक ही जन्म का हिसाब लगाकर आप किसी को

उच्च अथवा नीच आन बैठेंगे तो भगवान् का खाता मिट्टी हो जायगा। मुसलमान और ईसाइयों की तरह भगवान् को प्रलय के दिन सब के पोथे खोलने पड़ेंगे। मेरे बतलाए हुए भक्तों की पूर्व संचित पापराशि पूर्व जन्म में ही अधिकांश नष्ट हो चुकी थी। उधर उनके पापों का थोड़ा हिस्सा शेष था और इधर उन्होंने इस जन्म में उत्कृष्ट पुण्य संचय किया, परमात्मा की असाधारण भक्ति की, जो कुछ किया चित्त की एकाग्रता से, अनन्य भक्ति के साथ किया। अब भी ऐसे उत्कृष्ट कर्म करनेवाले पूजे जा सकते हैं। उन्हें आवश्यकता ही नहीं होती कि कोई उन्हें नीचे से ऊँचा उठाने के लिये प्रयत्न करे, सिफारिश करे किंतु आप लोग नई टकसाल खोलकर शूद्रों को द्विजत्व का सार्टिफिकेट देना चाहते हैं उनमें कोई वाल्मीकि और नारद के समान है भी ? हो तो बतलाइए !"

"तब क्या आपका मतलब यही है कि जो जैसा है वह वैसा ही पड़ा रहे। किसी की उन्नति की चेष्टा ही न की जाय ? तब अवश्य चौपट होगा !"

"नहीं इसमें भी आप भूल करते हैं। मेरी मनसा ऐसी कदापि नहीं हो सकती। मैं मानता हूँ और शास्त्रों के सिद्धांत पर मानता हूँ। गीता में भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने आज्ञा दी है कि—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ १॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ २ ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ३ ॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥

\+ \+ \+ \+

बस, इन महावाक्यों के अनुसार मानता हूँ कि जो जिस कर्म में अभिरत है उसी में उसे सिद्धि प्राप्त होती है। केवल वर्णाश्रम धर्म का पालन होना चाहिए।"

"इसमें आपका हमारा मतभेद नहीं किंतु इससे जन्म से वर्ण सिद्ध नहीं होता।"

"सिद्ध क्यों नहीं होता? जब आप पुनर्जन्म मानते हैं, पूर्वजन्म के शुभाशुभ फलों से उच्च और नीच जाति में जन्म ग्रहण करना मानते हैं तब आप कैसे इसे नहीं मान सकते?"

"अच्छा, तब नीचों की उन्नति क्योंकर हो? ढेड़, चमार, भंगी और ऐसे ही अंत्यज केवल हमारी छुआछूत से अधिक अधिक गहरे गढ़े में गिर रहे हैं।"

"उन्हें निकालना चाहिए, उनको सदुपदेश देकर उनके मद्यपानादि दोष छुड़ाने चाहिएँ। उनके जो पेशे हैं उनकी उन्नति करने के लिये उन्हें आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

बाँस का सामान बनाने और चमड़े का काम कराने के लिये उनकी कारीगरी का सुधार करना चाहिए। उनकी भगवान् में भक्ति बढ़े ऐसा उपदेश देना चाहिए। बस हुआ। अब यदि इतनी मदद देकर आपने उनके हाथ का छुआ पानी न पिया तो क्या हानि हुई? यदि छुआछूत ही विनाश का हेतु होती तो संक्रामक रोगों में इसकी व्यवस्था क्यों की जाती? एक ओर डाक्टर लोग छुआछूत बढ़ा रहे हैं और दूसरी ओर धर्म के तत्वों को न समझकर, वैद्यक के सिद्धांतों पर पानी छोड़कर चिर प्रथा मेटने का प्रयत्न! घृणित कर्म करनेवालों के स्पर्श का अवश्य असर होगा। इसी लिये हमारे यहाँ केवल अंत्यजों के साथ ही नहीं वरन् हम रजस्वला स्त्री का स्पर्श नहीं करते, अशौच में किसी का स्पर्श नहीं करते, पाय-खाने जाने के बाद स्नान करते हैं। हम अपवित्र माता पिता तक को जब नहीं छूते हैं तब अंत्यज क्या चीज? जाने दीजिए, यदि आपने उनका पेशा छुड़ाकर उन्हें उच्च वर्णों में संयुक्त कर लिया तो किसी दिन आपको नाई, धोबी, भंगी, चमार नहीं मिलेंगे। उस समय आपको उन लोगों की जगह लेनी पड़ेगी। इस कारण उन्नति के बहाने से हिंदू समाज में अधर्म का गदर न मचाइए। परंपरा से, पीढ़ियों से जो खानदान जिस काम को करता आया है उसी को वह अच्छी तरह कर सकता है। उस पेशे को सीखने में उसे जितनी सुविधा है उतनी नए खिलाड़ी को नहीं। इसलिये ब्राह्मणों को ब्राह्मण

ही रहने दीजिए। उनसे जूता सिलवाने का काम न लीजिए। यदि उनमें कोई गिर गया हो तो उस पर लातें न मारिए।"

"बेशक आपका कथन यथार्थ है। आज बहुत वर्षों की भ्रांति दूर हो गई।" कहता हुआ वह मुसाफिर भुवनेश्वर के स्टेशन पर उतर गया। इच्छा इनकी भी हुई थी किंतु विचार करते करते ही गाड़ी चल दी। तब इन्होंने श्री जगदीश के चरणों में लौ लगाई। इस विचार में मग्न होते होते ही वह भक्तशिरोमणि सूरदासजी के पद गाने लगे—

बिलावल—"आज वह चरन देखिहों जाय। टेक।

जे पद कमल रमा निज कर तें सकै न नेक भुलाय॥
जे पद कमल सुरसरी परसे भुवन तिहूँ जस छाय।
जे पद कमल पितामह ध्यावत गावत नारद चाय॥
जे पद कमल सकल मुनि दुर्लभ हौं देखों सत भाय।
सूरदास पद कमल परसिहौं मन अति भ्रमर उड़ाय॥
चकई री चल चरन सरोवर जहँ नहिं प्रेम वियोग।
जेहिं निस दिवस रहत इक बासर सो सागर सुख जोग॥
जेहिं किंजल्क भक्ति नव लच्छण काम ज्ञान रस एक।
निगम, सनक, शुक, शारद, नारद मुनि जन भृंग अनेक॥
शिव विरंचि खंजन मन रंजन छिन छिन करत प्रवेश।
अखिल कोश तहँ बसत सुकृत जल प्रकटत श्याम दिनेश॥
सुनु मधुकर भ्रम तजि कुमुदिनि को राजिव बट की आस।
सूरज प्रेम सिंधु में प्रफुलित तहँ चल करहिं निवास॥"

ऐसे गाते गाते ही उन्हें राक्षसराज विभीषण के मनोरथ स्मरण हो आए। "अहा! कैसा मनोहर दृश्य है। कथा का स्मरण होते ही अंतःकरण में कैसे भाव उत्पन्न हो उठे। वास्तव में विभीषण धन्य था जिसने भगवान् रामचंद्र के दर्शन जाकर किए। जबसे उसने रावण-सभा का त्याग किया उसे एक एक पद पर, एक एक कदम पर, अश्वमेध यज्ञ का फल होना चाहिए। इससे भी बढ़कर। इसके आगे वह कोई वस्तु नहीं। सूरदासजी के मनोरथ और विभीषण के मनोरथ समान ही समझो किंतु विभीषण से सूरदासजी को और सूरदासजी से विभीषण को फल अधिक मिला। दोनों में से नहीं कहा जा सकता कि किसे विशेष मिला। एक को श्रीगोलोकविहारी के चरणों की युग युगांतर तक सेवा और दूसरे को अखंड ऐश्वर्ययुक्त राज्य। प्रभु चरण कमलों में पहुँचने पर भी प्रवृत्ति। गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में विभीषण का मनोरथ था—

चौपाई—चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं।
करत मनोरथ बहु मन माहीं॥
देखिहौं जाय चरन जलजाता।
अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥
जे पद परसि तरी ऋषिनारी।
दंडक कानन पावनकारी॥
जे पद जनकसुता उर लाये।
कपट कुरंग संग धर धाये॥

हर उर सर सरोज पद जेई।
अहो भाग्य मैं देखब तेई ॥

दोहा—जिन पायन के पादुका, भरत रहे मन लाय।
ते पद आज बिलोकिहौं, इन नयनन अब जाय ॥

यों उसका मनोरथ निःसंदेह केवल अव्यभिचारिणी भक्ति पाने का था और उसे मिल भी गई किंतु साथ ही लंका का राज्य भी उसके गले मढ़ दिया गया। फल यही हुआ कि जो कुछ भगवान् को कर्तव्य था। उसने प्रार्थना की थी कि—

उर कछु प्रथम बासना रही।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ॥
अब कृपालु मोहि भक्ति सुपावनि।
देहु कृपा करि शिव मन भावनि ॥

इससे स्पष्ट है कि दर्शन करने से पूर्व उसे जो राज्य पाने की वासना थी वह एकदम नष्ट हो गई। अब उसे बिलकुल इच्छा न रही कि राज्य कोई वस्तु है। उसने परमेश्वर की अविचल भक्ति के आगे संसार को तुच्छ समझा और भगवान् ने "एवमस्तु" कहकर उसे वह दी भी परंतु साथ ही—

चौपाई—एवमस्तु कहि प्रभु रणधीरा।
माँगा तुरत सिंधु कर नीरा ॥
जदपि सखा तोहि इच्छा नाहीं।
मम दर्शन अमोघ जग माहीं ॥

दोहा—रावन क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचंड ।
जरत विभीषण राखेउ, दीन्हेउ राज अखंड ॥
जो संपद शिव रावणहि, दीन्ह दिये दस माथ ।
सो संपदा बिभीषणहि, सकुचि दीन्ह रघुनाथ ॥

पितामह भीष्म जैसे और भी भक्त अनेक होंगे जिनको अपनी हार दिखलाकर भगवान् ने जिताया है। परंतु यहाँ उससे कान पकड़कर राज्य करा लिया और सो भी उस समय में राज्य दे दिया जब लंका का एक कँगूरा भी नहीं टूटा था। वानरी सेना समुद्र के इस पार पड़ी हुई टकरें खा रही थी। धन्य! आपकी लीला अपार है। भला ये कथाएँ बड़े बड़े भक्तों की हैं। उनके आगे मैं किस गिनती में! धरती में पड़ना और महलों का स्वप्न! छोटे मुँह बड़ी बात! खैर! महाराज जैसी आपकी इच्छा! मुझे राज्य नहीं चाहिए, स्वर्ग नहीं चाहिए, मोक्ष नहीं चाहिए और संसार का सुख नहीं चाहिए। जब जिस स्थिति में आपको मुझे रखना हो रखिए। केवल आपके चरणारविंदों में अव्यभिचारिणी भक्ति की अपेक्षा है और कृपासागर के अमोघ अमृत के एक बिंदु की।"

बस, इस प्रकार से जब पंडितजी मन ही मन विचार करते जाते थे "जगदीश महाराज की जय!" का स्वर इनके कानों में पड़ा और नील चक्र के दर्शन करते हुए यह अपने साथियों को लेकर पंडा महाराज के गुमाश्ते के साथ उनके मकान पर, ठहरने की जगह, जा पहुँचे।